कृतित्व

राजगुरु कथाभट्ट जगदीश चन्द्र शर्मा

जगन्मंगल गोविन्ददेव

–राजगुरु कथाभट्ट जगदीशचन्द्र शर्मा

श्रीराधागोविन्दचरणकमलाभ्यां नमः।
अहः संहरदखिलं सकृदुदयादेव सकललोकस्य।
तरणिरिव तिमिरजलधिं जयति जगन्मंगलं हरेर्नाम।।

-श्री मन्मध्वाचार्य

जिस परमात्म–संभूत तेज के गोलक सूर्य भगवान के एकाएक उदय हो जाने से, अन्धकाररूपी विस्तृत–समुद्र को पार करने व दूर करने के कारण, सर्वत्र प्रकाश की किरणें व्याप्त हो जाती हैं उसी प्रकार दहराकाश में स्थित अज्ञान रूपी तिमिर, भगवन्नाम के स्मरण करने मात्र से लुप्त हो जाता है और एकमात्र प्रकाशरूप–ज्ञान स्थिर हो जाता है। भगवान श्री हरि का नाम समस्त संसार में व्याप्त अमंगल को दूर कर विश्व को मंगलमय बनाता है, जीवन को आनन्दमय करता है। ऐसी सूक्ति है आचार्यचरण श्रीमन् मध्वाचार्य की।

आपका सिद्धान्त, चेतन और अचेतन विद्या पर आधारित है और जीव और परमात्मा की इयत्ता एवं व्याप्ति का स्थापक है।

''यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँस्वाम्।''

(कठोपनिषद 1.2.23)

ये जीव जिस रास्ते को आत्मोद्धार का साधक मानकर निष्ठापूर्वक उसे स्वीकार कर लेता है, वही रास्ता मानव के आत्म कल्याण का परम साधक हो जाता है, श्रद्धा व आंतरिक अभिलाषा इस प्रसंग की कड़ी है। निर्विशेष ब्रह्मवाद का प्रसङ्ग न उठाकर सविशेष ब्रह्मवाद के पाँच भेदों में से, प्रथम विष्णुपरक पर विचार करें तो विशिष्टाद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद और द्वैतवाद चार प्रकार के मार्ग आचार्य चरणों ने निर्दिष्ट किये हैं जिन में से द्वैतवाद का यहाँ प्रमुख प्रसंग है।

''द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति।।''

(मुण्डकोपनिषद 3.1.1)

यहाँ श्रुति कहती है कि जीव और ब्रह्म दोनों शरीर रूपी वृक्ष में निवास करते हैं, इनमें एक संसारवृक्ष के फलों का आस्वादन करता है और दूसरा (ब्रह्म) केवल तटस्थ वृत्ति धारण कर जगल्लीला को देखता रहता है। जगल्लीला दर्शक – श्री नित्यानन्द प्रभु – जगन्नाथ के दर्शक होते हुए भी तटस्थ–द्रष्टा के समान, नाद्य रसानुभूति से, किसी भी प्रकार संबद्ध अवश्य हैं। इसीलिए आम्नाय से एक मात्र जाने जाने के कारण भगवान हरि हैं और सबसे अन्तिम सत्य, केवल हरि – भगवान् के स्वरूप में ही प्रगट होता है। सृष्टि के पदार्थ यद्यपि जीव रूप से नश्वर हैं किन्तु भेद उसी के होने से, नीच और उच्च अभिधा को धारण कर नाटक के पात्र बन जाते हैं किन्तु उस द्रष्टा को प्रसन्न करने का लक्ष्य रखने के कारण ये सब उसी के अनुचर हैं। यद्यपि ये माया मोहित, शक्ति–सामर्थ्य आदि उससे (अधिक से) कम होने से अज्ञत्वादि गुणाभिभूत हैं।

यदि इस अज्ञत्व का भेद सर्वज्ञ से मिटाने की कामना हो तो उसका एक मात्र उपाय ''अमला'' भक्ति , भगवच्चरणारविन्दों में होना परमावश्यक है और उसको, अपने को, पराया समझने में संसार, जीव और ईश्वर में भेद है किन्तु उसी के सुखोपभोग में आत्मरति जब हो जाय तो यही भक्ति मुक्ति का साधन बनकर उसकी प्रत्यक्षता को अनुमान व शक्ति द्वारा सिद्ध बनाती है। शक्ति, शब्द व पुकार में है और यह सामर्थ्य न्यून तथा अधिक प्रमाण में है। किन्तु अधिकता में निर्वाह है और न्यूनता में निर्वाह होना मुश्किल हो जाता है अतः अधिक की सुखानुभूति अपनी भी मान लेने पर स्थालीपुलाक न्याय से सभी का सुख एक होकर सर्वशक्तिमान की प्रभा मात्र को, अवशिष्ट करता है।

''श्रीमन्मध्वमते हरिः परतरः सत्यं जगत्तत्त्वतो
भेदो जीवगणा हरेरनुचरा नीचोच्चभावं गताः।
मुक्तिर्नैजसुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत्साधनं
ह्यक्षादित्रितयं प्रमाणमखिलाम्नायैकवेद्यो हरिः।।''

आचार्यचरणैः

ब्रह्म की सगुण सत्ता, जीव का दास भाव, जीव अणु–परमाणु के समान है और भगवद्दास है। पाञ्चरात्र शास्त्र का मार्ग जीव को अपनाना चाहिए। प्रपंच सत्य है। कहते हैं यहाँ तक श्रीरामानुज के मत से माध्व की संगति है किन्तु पदार्थ–निर्णय एवं तत्वनिर्णय दोनों के अलग अलग हैं। श्रीमन्मध्व के मत में – पदार्थ या तत्व दो प्रकार का है – स्वतंत्र और अस्वतन्त्र। अशेष सद्गुण धारण

करने वाले भगवान विष्णु स्वतन्त्र–तत्व हैं और जीव व जड़ जगत अस्वतन्त्र तत्व हैं। श्रीमन्मध्व पूर्णतः द्वैतवाद के वक्ता हैं। सारूप्य सालोक्यादि मुक्ति ही परमार्थ है। स्वातन्त्रास्वतन्त्रवाद आचार्य श्री द्वारा ही स्थापित किया गया है। सत्य व दृश्य वस्तु अभिन्न हैं, इनमें भेदभाव नहीं करना चाहिए। ज्ञाता और ज्ञेय के बिना ज्ञान प्राप्ति असंभव है। सत्य, ज्ञान, वेद, प्रमाण, जगत् की सत्यता, भेद, उपाधिखण्डन, मायावादखण्डन, ब्रह्मविद्या का अधिकारी, विषय, प्रयोजन, तत्व, पदार्थ, ब्रह्म, आत्मा व जीव, जगत्, मुक्ति, साधन, दशविघभजन – मुख्य मुख्य प्रसंग हैं।

अब तक यहाँ पर सिद्धान्त सम्बन्धी चर्चा चली, अब स्वतन्त्र नाम–माहात्म्य से परमात्मा व आत्मा संबंधित ज्ञान प्राप्ति अभीष्ट है और प्रारंभ में महाभारत शान्ति पर्व में कहा है–

व्याप्ते मे रोदसी पार्थ, क्रान्तिश्र्वाचाभ्यधिका स्थिता।
क्रमणाच्चाप्यहं पार्थ विष्णुरित्यभिसंज्ञि तः।।

(शांति पर्व 341. 42–43)

जब पृथ्वी व आकाश दोनों मेरी विभा से व्याप्त होते हैं तो क्राँति (देदीप्य तेज) अधिक विस्तृत हो जाती है और क्रमु–पादविक्षेपे क्रिया से होने वाली व्याप्ति से विष्णु इस प्रकार जाना जाता हूँ।

बृहन्नारायणीय श्रुति में कहा हैः–

''यच्च किंचिज्जगत् सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः।।''

जो कुछ भी जगत् के अस्तित्व की स्थिति का परिचायक दिखाई पड़ने वाला व सुनाई देने वाला पदार्थ है उन सब में भीतर अनुस्यूत और बहिर्दृश्यमान जगत्, नारायणमय है।

''वेवेष्टि व्याप्नोतीति विष्णुः, नुक् प्रत्ययान्तस्य रूपं विष्णुरिति। देशकाल परिच्छेद शून्य इत्यर्थः।''

''सब पदार्थों में जो व्याप्त हो उसका नाम विष्णु है। व्याप्ति अर्थ के वाचक नुक्प्रत्ययान्त विष् धातुका रूप विष्णु बनता है। तात्पर्य यह है कि देश, काल, वस्तु रूप त्रिविध परिच्छेद से रहित है। उक्त श्री आद्यशंकराचार्य कृत व्याख्या है।

''वैकुण्ठः'' विविधा कुण्ठा गते प्रतिहतिः, विकुण्ठा, विकुण्ठायाः कर्तेति वैकुण्ठः, जगदारम्भे विश्लिष्टानि भूतानि परस्परं संश्लेशयन् तेषां गतिः प्रतिबध्नातीति।''

गत्यवरोध, कुण्ठा कहा जाता है। सतत् गति, सत्य एवं अवरोध रहित है, सदातन–सनातन है अतः विकुण्ठ है और इस गति को सदा सर्वदा स्थित व वर्तमान रखने वाला वैकुण्ठ कहा जाता है। कहते हैं सृष्टि के प्रारंभ में तत्व आदि अलग अलग स्थित थे मिश्रित नहीं थे, उन पदार्थों को एक दूसरे से आपस में मिलाने पर जगत् की गति का निबन्धन हुआ इस नियामक का नाम वैकुण्ठ है।

शान्ति–पर्व में कहा कि – मैंने पृथ्वी को जल के साथ मिला दिया और आकाश को वायु से, वायु को तेज के साथ एकमेक कराने वाला वैकुण्ठ कहलाता है।

तत्वों के रंगों के सम्बन्ध में यदि विचार करें तो– पृथ्वी स्वयं कृष्ण–वर्णा है जल भी काले ही वर्ण में स्थित है। आकाश का रंग गहन होने से अधिकांश कृष्ण और वायु का रंग सदा–गति रहने से कृष्ण–वर्ण हुआ। जब एकमात्र तेज पदार्थ अग्नि, स्थिति समय मात्र में प्रकाशमान होने पर भी–

''आ कृष्णेन रजसा वर्तमानम्''

सूर्य, तेजस्वी होने पर भी कृष्ण रज से वर्तमान, मध्य में नीले तेज के पुंज दिखाई देते हैं और अग्निदेव की शिखा प्रत्यक्ष में काली धुँआ धारण करती है अतः साम्राज्य–प्राप्ति कृष्णवर्ण को विश्व में है। अतः प्रायः मेघ जो आकाश में, घनघोर घटा दिखाकर, वर्षा करते हैं काले ही वर्ण को धारण करते हैं। अतः व्याप्त तत्व नीलाभ, प्रकृति व पुरूष का अपना रंग है। इसी के दायरे में सभी अग्निपिंड दिखकर ओझल होते रहते हैं व्याप्ति मात्र का लेखा जोखा वर्तमान, भूत व भविष्यत् सब जगह एक सा होने के कारण इसका अस्तित्व त्रिकालाबाध्य है।

सनातन गतिशक्ति के संचालक, भगवान सर्वाधार श्री गोविन्द देव का आश्रय लेने पर संसार की व्याधियाँ नष्ट हो जाएंगी और कुण्ठा नाश को प्राप्त होगी और नील गगन में लीन होना ही मानव मात्र का कर्त्तव्य है। आज बडा सुअवसर जीवन में प्राप्त हुआ कि हम अपने सर्वस्व को सर्व–स्व अर्पण करने को आग्रही हैं। जहाँ आग्रह, अपना रहा और ग्रहणीय ने आ–ग्रह आकर ग्रहण कर लिया, अपनाया तो फिर इधर उधर भटकने की आवश्यकता ही कहाँ रही।

"भक्ता एकान्तिनो मुख्याः।"

(नारद भक्ति–सूत्र 67)

नारद–भगवान कहते हैं कि एकान्तिन् (एक पर ही श्रद्धा रखने वाले) भक्त (भगवान में परम श्रद्धालु) ही श्रेष्ठ हैं।

"कण्ठावरोधरोमांचाश्रुभिः परस्परं लयमानाः पावयन्ति कुलानि पृथिवीं च।"

(नारद भक्ति–सूत्र 68)

कण्ठावरोध, रोमांच, प्रेमाश्रुपात से समाज में परस्पर वार्तालाप करते हुए भगवद्भक्त अपने कुल व पृथ्वी को पावित करते हैं।

यही भारतीय समाज था जहाँ अनुदिन, क्षण क्षण मिलकर सब लोग भगवल्लीला का स्मरण, दर्शन, कीर्तन आदि करते थे और आज श्री गोविन्द देव मंदिर जयपुर (राजस्थान) में भक्त–जन कर रहे हैं।

"गोविन्द–गोविन्द हरे मुरारे।"

मीरा

–राजगुरु कथाभट्ट जगदीशचन्द्र शर्मा

परम भागवत, सन्त श्री मीराबाई का चरित्र चित्रण करते समय यह बात ध्यान में आ जाना स्वाभाविक ही है कि भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में स्पष्ट कहा है कि –

"जन्म कर्म च मे दिव्यं एवं यो वेत्ति तत्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति, मामेति सोऽर्जुन।।"

"जन्मबन्ध विनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्।।"

मनुष्य जीवन, सार्थक करने का सर्वोत्तम उपाय, इस जीवन के अन्तःस्थल में छिपा रहने वाला इसकी दिव्यता का ज्ञान है, जिसे प्राप्त करने पर दिव्यकर्म करने पर पुनर्जन्म का बंधन मुक्त होता है और परब्रह्म प्राप्ति होती है। भक्त, जन्म–मृत्यु के आवागमन बन्धन से मुक्त होकर अनामय पद को प्राप्त करता है। श्री मीराबाई का जन्म कर्म इसी दिव्यता का प्रत्यक्ष उदाहरण है।

राठौड़ क्षत्रियों की मेड़तिया शाखा में, राजस्थान के मारवाड़ प्राप्त के मेड़ता परगने में संवत् विक्रमीय 1560 में, आश्विन शुक्ल पूर्णिमा को श्री मीराबाई ने जन्म लिया। जिसका प्रमाण, हस्तलिखित पद प्रतिलिपि डाकोरजी की वि. संवत् 1642 की में, राजस्थानी भाषा में एक पद, इस प्रकार का प्राप्त होता हैः–

"रास पूनों जनमिया री राधका अवतार।
ज्ञान चौसर मँडी चोहटे खेलता संसार।
गिरधराँ री रची बाजी जीत भावाँ हार।
साध–सन्ताँ ज्ञानवन्ताँ चालताँ उच्चार।
दासि "मीराँ" लाल गिरधर, जोवणा दिन चार।।"

ज्ञान का प्रकाश, शरत्कालीन चन्द्रमा की शुभ्र चन्द्रिका के समान, स्वच्छ और निर्मल है और इसी दोषरहित समानता के प्राकृतिक सौन्दर्य पर मुग्ध होकर एक दिन भगवान की वंशी के आगे, विश्व का जड़ चेतन, मुग्ध हो गया था और अपनी सुधि बुधि खोकर सभी भगवल्लीनता के भाव में थे अतः इसी पवित्र दिन इनका भी जन्म हुआ है।

इनके दादा राव दूदाजी ने मेड़ते में संवत् 1518 में अपना राज्य स्थापित किया था। इन्होंनें यहाँ महल व श्री चारभुजाजी का मन्दिर बनवाया और इनकी कुल परम्परा मेड़ता के कारण, मेड़तिया विख्यात हुई। जोधपुर के बसाने वाले राव जोधाजी के चौथे पुत्र यही राव दूदाजी थे। इननें अपने द्वितीय पुत्र राव रत्न सिंह को कुड़की, बाजोली आदि बारह गाँव गुज़ारे के लिए दिए और इसी कुड़की (मेड़ता परगना) ग्राम में श्री मीराबाई का जन्म हुआ। वहीं इनका लालन–पालन इसी ग्राम में होता रहा और बाल्यावस्था में ही एक दिन इननें स्वप्न में अपना विवाह श्री गिरिधर गोपाल से होना देखा । इस घटना की चर्चा माता से, स्वरचित पद में की, जो कि इस प्रकार हैः–

''माई म्हांणे शुपना में परण्या दीनानाथ।
छप्पन कोटी जणां पधार्या दूल्हो सिरी ब्रजनाथ।
शुपनां में तोरण बंध्या री शुपनां मे गह्या हाथ।
शुपनां मां म्हाणे परण गया पाया अचल सुहाग।
मीराँ रे गिरधर मिल्या री पुरब जनम रो भाग।।''

(संवत् 1642 की प्रतिलिपि से)

इस स्वप्न देखने के कुछ दिन बाद, एक पर्यटन करती साधु–मण्डली वहाँ आई। साधुओं के महन्त के पास श्री गिरिधर गोपाल की मूर्ति थी, जिसका दर्शन श्री मीरा बाई ने किया। मूर्ति की मनोहर छवि, इनके उर में समा गई और महन्त जी से प्रार्थना की कि वे इन्हें मूर्ति देदें। किन्तु महन्त जी ने इसे स्वीकार नहीं किया और मण्डली आगे चल पड़ी। मीरा बाई ने उसी दिन से उपवास प्रारम्भ कर दिया। महन्त जी को आगे बढ़ने पर भक्त–वत्सल भगवान ने स्वप्न में आज्ञा दी कि यह (श्री विग्रह मूर्ति) मीरा को अर्पित करो तदनुसार महन्तजी ने वापस लौटकर वह गिरिधर गोपाल की मूर्ति मीरा बाई को दे दी। इसे प्राप्त कर इन्हें परम प्रसन्नता हुई और इसी मूर्ति को अपने स्वप्न के दूल्हा (वर) मानकर ये इसकी अनन्य मन से भक्तिभावपूर्वक प्रतिदिन पूजा करने लगी।

इनके पितामह राव दूदाजी भी भगवद्भक्त थे और मीरा बाई की भक्ति में निष्ठा, बचपन में ही स्वतः (उत्पन्न) देखकर, इन्हें अपने पास मेड़ते बुला लिया और इनकी शिक्षा व लालन–पालन स्नेहपूर्वक किया। मेड़ते में मीरा बाई, प्रायः चारभुजाजी के मन्दिर के निकट के, झरोखे में बैठकर पद गाया करती थी। भगवत्प्राप्ति के निमित्त ये चुपके चुपके उपवास करने लगी व भगवान के विरह में विकल रहने लगी। धीरे धीरे इनका शरीर कृश होने लगा तो एक दिन इनकी माता ने, एक वैद्य को बुलाया और रोग का निदान कराना चाहा तो इस पद द्वारा उनने वैद्य को बताया कि उन्हें कोई व्यथा नहीं और जो है वह वैद्य की दवा के असर से बाहिर है। पद निम्न प्रकार हैः–

बाबल बैद बुलाइया रे पकड़ दिखाई म्हारी बाँह।
मूरख बैद मरम नहिं जाणै कसक कलेजे माँह।।

राव दूदाजी की मृत्यु संवत् 1572 में हुई और उनके ज्येष्ठ पुत्र वीरमदेव जी मेड़ता के सिंहासन पर बैठे। गद्दी पर बैठने के दूसरे ही वर्ष इननें मीरा बाई का सम्बन्ध, चित्तौड़ के महाराणा साँगा के युवराज कुँअर भोजराज के साथ निश्चित किया।

मीराबाई किसी भी वर से विवाह करना नहीं चाहती थी किन्तु कुँअर भोजराज की बारात जब मेड़ता पहुँची तो इनको, लौकिक विवाह बन्धन में बँधने की कुल परम्परा को निभाने के अर्थ, इनकी माता[1] ने इन्हें बहुत समझाया। तब इनने साथ में श्री गिरिधर गोपाल की मूर्ति रखकर विवाह[2] स्वीकार किया और मूर्ति को पालकी में बिराजमान करके चित्तौड़ साथ ले आई।

भक्तिमती श्री मीराबाई की लीला यहीं से प्रारम्भ हुई कि विवाह के बाद चित्तौड़गढ़ आने पर कुँ. राणा भोज की माता ने इन्हें देवी पूजन का आग्रह किया तो उननें श्री गिरिधर गोपाल के अलावा अन्य देवी देवता के सम्मुख झुकने में अपनी असमर्थता प्रकट की तो राणा भोज के पिता माता, इनके ससुर व सास, इनसे संतुष्ट हुए। इन्हें रहने को अलग एक महल दे दिया गया, जो कि कँवर पदे के महल[3] के नाम से आज तक प्रसिद्ध है। इनके पति भोज ने, आरम्भ में, इनकी उपासना व भक्तिक्रम का विरोध किया किन्तु जब देखा कि भगवान में इनकी सच्ची श्रद्धा व अटल भक्ति है तो विरोध करना छोड़कर इनको कुम्भश्याम के मन्दिर में जाने व साधु–संगति करने की प्रसन्नतापूर्वक अनुमति दे दी।

विवाह के 4, 5 वर्ष बाद ही कुँ. भोजराज की मृत्यु हो गई और मीरा बाई ने तदनन्तर राणा साँगा से एक मन्दिर बनवाने की प्रार्थना की तब राणा ने कुम्भश्याम के मन्दिर के समीप ही बाँई बाजू में संवत् 1581 में, एक मन्दिर[4] बनवा दिया, जिसमें रहकर मीरा बाई निज आराध्य देव श्री गिरिधर गोपाल की पूजा, भजन, कीर्तन, साधु–संगति, सत्संग करने लगी। राणा साँगा की पत्नी, महारानी

झाली, तीर्थयात्रा प्रसंग से काशीधाम गई थीं और वहाँ सन्त रैदास जी को अपना गुरु बनाया। सन्त रैदास जी[5] से चित्तौड़ पधारने का आग्रह किया और जब वे चित्तौड़ आए तब मीरा बाई भी इनके सत्संग से प्रभावित हुईं और इन्हें गुरु माना, जिसका कि प्रमाण निम्न पद से स्पष्ट है–

''रैदास सन्त मिले मोहि गुरु दीन्हीं सुरत सहदानी।''

संवत् 1583 में महाराणा साँगा का युद्ध शहन्शाह बाबर से खानवा में हुआ, जिसमें कि महाराणा घायल हुए और संवत् 1584 में इनकी मृत्यु हुई। मीरा बाई के पिता श्री रत्नसिंह भी इसी युद्ध में खेत रहे।

महाराणा साँगा की मृत्यु के पश्चात्, इनके द्वितीय पुत्र रत्नसिंह चित्तौड़ की गद्दी पर बैठे। राव सूरजमल बूंदी के अधिपति के साथ इनका वहीं झगडा हो गया और संवत् 158 में आपसी लड़ाई में ये दोनों ही मारे गए।

इनकी मृत्यु पर विक्रमाजीत, 20 वर्ष की आयु में महाराणा बने। ये उद्दण्ड प्रकृति के थे और इनका बर्ताव सरदारों से भी बुरा रहा और आपसी वैमनस्य बढाने में कारण हुआ। सरदार इन्हें छोड़ अपने अपने घर चले गए और खुशामदी व ओछी प्रकृति के मानवों का प्रभाव इनकी राज–सभा पर छा गया। वे ही लोग मुसाहिब बनकर हुकूमत करने लगे।

विक्रमाजीत के महाराणा होने से पूर्व ही मीरा बाई की अपूर्व भक्ति व इनके स्वरचित पदों की ख्याति भारत में सर्वत्र व्याप्त हो गई और नाना जनपदों से चलकर अनेक भक्त व साधु मण्डल इनके दर्शन करने को दूर दूर से चित्तौड़ आने लगे।

राणा दो कारणों से मीरा बाई से द्वेष रखकर इन्हें नाना प्रकार से कष्ट देने में तत्पर हुआ। प्रथमतः वह इनकी साधु–संगति से द्वेष रखता था दूसरे रत्नसिंह ने इनके मामा सूरजमल को मारा और स्वयं विक्रमाजीत भी इनके पति की माता से, सौतेली मां के उत्पन्न होने के कारण डाह व वैर रखता था। इसने इनके भजन, पूजन, साधु सत्संग आदि में अनेकानेक बाधाऐं उपस्थित की जिसका कि प्रसंग मीरा बाई ने अपने पद में इस प्रकार किया है –

''हेलि म्हाँसूँ हरि बिन रह्यो न जाय।
सासू लड़ै, म्हारी नँणद खिजावै, देवर रह्यो रिसाय।
पेहरो बैठ्यो, चौकी मेली, ताळो दियो जड़ाय।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर और न आवै म्हारै दाय।।''

इस भावना से उन्मत्त हुआ विक्रमजीत, एक दिन अपने मन्त्रि विजयवर्गीय से सलाह करके, दयाराम नामक पंडे द्वारा चरणामृत के रूप में हलाहल विष का प्याला मीरा बाई को मारने की नीयत से भेजा। श्री मीरा बाई ने उसे साक्षात् चरणामृत मानकर, भगवान का ध्यान करते हुए, उसका पान किया। भगवल्लीला अगम्य है और भगवत्प्रभाव से वह विष अमृत के रूप में परिणत हुआ, उसका मारण प्रभाव ईश्वर कृपा से जाता रहा और मीरा बाई वैसी ही स्वस्थ दिखाई पड़ी। निजरचित पद में उपरोक्त घटना का वर्णन इस प्रकार से हैः–

म्हाराँ री गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई।
दूसरो न कोई साधाँ सकल लोक जोई।।
भायाँ छाँड्या बन्धाँ छाँड्या सगा सोई।
साधाँ सँग बैठ बैठ लोक लाज खोई।।
भक्त देख्याँ राजी हुई जगत देख्याँ रोई।
अँसुआँ जल सींच सींच प्रेम बेल बोई।।
दध मथ घृत काढ़ लेयाँ डार देयाँ छोई।
राणा विषरो प्यालो भेज्याँ पी मगन होई।।
अब तो बात फैल पड़ी जाण्याँ सब कोई।
मीराँ री लगन लाग्याँ होणा हो जो होई।।

(सं. 1642 की प्रति से)

इस प्रकार भगवत्कृपा व भक्त–निष्ठा के बल पर हलाहल विष का प्रभाव नष्ट हुआ देखकर, फिर, एक पिटारे में विषधर काला नाग रखकर, महाशालिग्राम शिला रखी हुई है यह उस पिटारे का परिचय देते हुए, वह पिटारा मीरा बाई के पास भेजा। पिटारा मीरा बाई ने खोला तो शालिग्राम प्रभु की मूर्त्ति, उस विषधर नाग के स्थान पर दिखाई दी, जिसकी चर्चा उनके इस पद में हैः–

''माई म्हाँ गोविन्द गुण गाणा।
राजा रूठ्याँ नगरी त्यागाँ हरि रूठ्याँ कहँ जाणा।
राणा भेज्याँ विषरो प्यालो चरणामृत पी जाणा।।
काला नाग पिटरियाँ भेज्याँ सालगराम पिछाणा।
मीराँ गिरिधर प्रेम बावरी साँवरिया वर पाणा।।''

जब साँप भेजकर भी विक्रम की मनोकामना संतुष्ट न हुई तो चूर चूर हुआ जब उसने देखा तो अपने गुप्तचरों को मीरा बाई की निगरानी को तैनात किया। उन गुप्तचरों ने, एक दिन, मीरा बाई को बातें करते हुए सुना, जो कि वो श्री गिरिधारी से कर रही थी, जाकर विक्रम को चर्चा की कि वो आज किसी से बातचीत कर रही थी, हमने सुना है। राणा तलवार लेकर तुरन्त दौड़ा आया और मीरा बाई से पूछा कि वो कौन था जिससे कि अभी कुछ देर पहिले तुम्हारी बातचीत हुई थी। उत्तर में मीरा बाई ने श्री गिरधर गोपाल की मूर्ति की ओर इशारा कर दिया। और कहा कि मैं इन्हीं से बातचीत कर रही थी, राणा ने उत्तर सुनकर चारों ओर देखकर मूतिर्त्त की ओर दृष्टि डाली कि वहाँ उसको एक डरावना भयानक दृश्य दिखाई पडा जिसे देखकर राणा[6] भयभीत होकर त्राहि त्राहि पुकारने लगा और लज्जित हुआ।

इस प्रकार राणा ने मीरा बाई की भक्ति में अनेक बाधाऐं उपस्थित करने में कोई कसर नहीं रखी किन्तु मीरा बाई की तपस्या ने उन सब बाधाओं को निर्मूल कर दिखाया। जब उपरोक्त घटनाओं के समाचार मेड़ता के राव वीरमदेव तक पहुँचे तो उसने मीरा बाई को मेड़ते बुला लिया, ये संवत् 1571 की घटना है, जब कि मीरा बाई वहाँ पहुँची।

मीरा बाई की सामयिकता स्पष्ट करने के हेतु, इतिहास का कुछ अंश, जो कि चित्तौड़ के महाराणाओं की परम्परा का दिग्दर्शन कराता है, यहाँ हम उद्धृत कर रहे हैं। संवत् 1572 में सुलतान बहादुरशाह ने चित्तौड़ घेरा और किले पर अधिकार कर लिया। इस अवसर पर राणा विक्रमजीत व उदय सिंह की माता ने किले पर दहकती चिता में अपने को होम दिया और इस प्रकार भारतीय सतियों की श्रेष्ठ परम्परा को सुरक्षित किया और विदेशियों से आत्मरक्षा की। कर्मेतण जी इनका नाम था और जैसा नाम था वैसा ही काम कर दिखाया। इस घटना के कुछ ही महीने बाद ही सुल्तान बहादुर शाह हुमायूँ से हारकर गुजरात भाग गया और चित्तौड़ पर पुनः राणा विक्रमाजीत अधिकार हो गया किन्तु इसका स्वभाव जैसा पहिले था वैसा ही रहा और राणा साँगा के भाई पृथ्वीराज का पासवानियाँ पुत्र बनवीर इसका विश्वासपात्र बन बैठा। बनवीर ने, अन्त में, राणा विक्रम से विश्वासघात किया और संवत् 1583 में इसे धोके से मारकर खुद चित्तौड़ का राणा बन बैठा और राणा के छोटे भाई उदय सिंह को भी इसने मारना चाहा किन्तु कर्तव्यपरायणा श्री पन्ना धाय ने, निजपुत्र की बलि देकर राणा उदय सिंह को बचा लिया।

बनवीर से सभी सरदार घृणा करने लगे और इसका साथ छोड़कर कुम्भलमेर में राणा उदय सिंह का राज्याभिषेक संवत् 1585 में किया और 2 वर्ष बाद ही राणा उदय सिंह जी का अधिकार चित्तौड़ किले पर हो गया। मीराबाई के पति की सौतेली मां से उदय सिंह का जन्म हुआ था अतः ये मीराबाई के सबसे छोटे देवर थे। संवत् 1616 में इनने पीछोला झील पर अपने नाम से उदयपुर नामक पुर का निर्माण किया। ये स्वयं चित्तौड़ रहते थे और संवत् 1624 में बादशाह अकबर ने चित्तौड़ किले पर चढ़ाई की। किला 4 मास तक युद्ध करने के बाद टूट गया और महाराणा उदय सिंह चित्तौड़ से उदयपुर जा बसे। इसी युद्ध में मीराबाई के भाई जयमलजी[7] भी काम आए। महाराणा उदय सिंह जी के 24 पुत्र थे, जिनमें ज्येष्ठ पुत्र वीर शिरोमणी महाराणा प्रताप थे और इनसे छोटे शक्ति सिंह थे, जिनने कि राणा प्रताप की हल्दीघाटी के युद्ध में प्राण रक्षा की। इस युद्ध में विपक्षी होते हुए भी शक्ति सिंह ने मेदपाटेश्वर श्री महाराणा प्रताप की रक्षा की और स्वयं को इन पर न्योछावर कर दिया।

मीराबाई, चित्तौड़ किले से मेड़ता जाने के बाद, कुछ वर्ष वहाँ रही और यहाँ इनका निवास जानकर, अनेक साधु सन्त सत्संग करने को आते रहे। संवत् 1672 के आस पास ये तीर्थ यात्रा करने निकली और वृन्दावन धाम पधारी। यहाँ गौरांग महाप्रभु के सात शिष्यों में से एक शिष्य श्री जीव गोस्वामी निवास करते थे। भारत भर में वैष्णव धर्म का प्रचार बड़ी लगन से इनने सर्वत्र किया और भक्त समुदाय में ये अग्रगण्य थे। इनका यह व्रत था कि ये स्त्री समुदाय से दूर रहते थे और जब मीरा बाई ने इनको दर्शन देने का आग्रह किया तो वही बात इनने दोहरायी। जिसके उत्तर में मीरा बाई ने कहलाया कि श्रीमद्भागवत् के अनुसार, मैं तो ब्रज–भूमि में, केवल श्रीकृष्ण का ही पुरूष रूप में होना स्वीकार करती थी किन्तु आपके उत्तर से विदित होता है कि यहाँ अन्य पुरूषाभिमानी भी निवास करते हैं। इस उत्तर से गोस्वामी जी अति लज्जित हुए और श्री मीरा बाई का आपने स्वागत किया और सत्संग भी खूब हुआ, श्री जीव गोस्वामी बड़े प्रसन्न हुए।

श्री मीराबाई ललिता–सखी के साथ वृन्दावन के भगवन्मन्दिरों का दर्शन करने गई यह भक्तवर श्री ने अपनी भशब्द–रचना नामक ग्रंथ में किया है, ये श्री मीराबाई के समकालीन (संवत् 1567 से 1635 तक) थे। स्वयं मीराबाई के पदों में

2 भगवन्मूर्तियों का वर्णन किया हैः—

(1) श्री गोविन्ददेवजी की मूर्ति — जो कि रूप गोस्वामी जी को गोभा टीला पर संवत् 1571 के लगभग प्राप्त हुई और इने मन्दिर बनाकर उस श्री विग्रह की स्थापना की। औरंगजेब के उपद्रव के समय जयपुर के राजा जयसिंह ने श्री विग्रह को जयपुर लाकर विराजमान किया और राज्य के प्रमुख, ठाकुर श्री जी को, निज महलों के भीतर बगीचे में मन्दिर बनवाकर स्थापित किया।

पद वृन्दावन—महिमा इस प्रकार हैः—
आली म्हाँने लागै वृन्दावन नीका।
घर घर तुलसी ठाकुर पूजा दरसण गोविन्दजी का।।
निरमल नीर बह्यै जमना का भोजन दूध धई का।
रतन सिघासण आप बिराजया मुगर धरयाँ तुलशी का।।
कुंजन कुंजन फिरीं साँवरा सबद सुण्याँ मुरली का।
मीराँ रे प्रभु गिरिधर नागर भजन बिनाँ नर फीका।।

(2) श्री मदनमोहन जी की मूर्ति — इसी प्रकार दूसरी मूर्ति श्री मदन गोपाल जी की है, जो श्री सनातन गोस्वामी को संवत् 1570 में आदित्य टीले पर मिली। इने भी मन्दिर बनवाकर स्थापना कर दी और श्री मदन गोपाल जी के स्थान पर श्री मदन मोहन जी नाम विख्यात हुआ। इस मूर्ति को औरंगजेब के समय जयपुर जाए और फिर यह करौली प्रतिष्ठित हुई, जहाँ यह अघावधि विराजमान है। पद इस प्रकार हैः—

निपट बंकर छवि अटके।
म्हारे नैणाँ निपट बंकर छवि अटके।।
देखि रूप मदनमोहन रो पियत पियूख न मटके।
बारिज भवाँ अलक मतवारी नैण रूप रस अटके।।
टेढि कर, टेढे कर मुरली टेढि पाग लर लटके।
मीराँ प्रभु रे रूप लुभाणी गिरधर नागर नटके।।

श्री मीरा बाई संवत् 1620 के अनंतर वृन्दावन से भजन कीर्तन करती हुई साधु मण्डली के साथ द्वारका पहुँची जहाँ पर ये ——— तक रही।

वृन्दावन से मीराबाई संवत् 1620 के बाद साधु मण्डली के साथ भजन कीर्तन करती हुई द्वारका पहुँची, जहाँ कि उनने जीवन—लीला के शेष दिन बिताए। द्वारका पहुँचकर रणछोड़ दास जी के दर्शन कर, जो भजन मीराबाई ने गाया वो इस प्रकार हैः—

म्हारो मन हरलीनो रणछोड़।
मोर मुगट शिर छत्र बिराजे कुण्डल री छबि ओर।।
चरण पखारत रत्नाकर री धारा गोमत जोर।
ध्वजा पताका तट तट राजै झालरवी झकझोर।।
भगत जणा रा काज सँवारिया म्हारा प्रभु रणछोड़।
मीराँ रे प्रभु गिरधर नागर कर गह्यो नन्दकिशोर।।

इधर महाराणा उदय सिंह चित्तौड़ हारकर उदयपुर जा बसे और यहाँ पर दुष्काल, महामारी आदि संकट सारे मेवाड़ आ पडे। जनता में यह चर्चा फैली कि जब से कष्ट पाकर मीराबाई ने चित्तौड़ छोड़ा तब ही से ये सब आपत्तियाँ दिन पर दिन बढ़ती जा रही हैं। इसलिए उन्हें सम्मान सहित वापस लाया जाय तभी सब विपत्तियों से छुटकारा प्राप्त हो सकता है। इस प्रेरणा ने महाराणा को मीरा बाई को लौटा लाने के प्रति उत्साहित किया और इनने एक ब्राह्मण मण्डली को मीरा बाई को लिवा लाने भेजा। ब्राह्मण मण्डली ने द्वारका पहुँचकर मीरा बाई से लौट चलने की प्रार्थना की परन्तु मीराबाई इस प्रार्थना पर प्रसन्न नहीं हुई। ब्राह्मणों ने श्री रणछोड़ जी के मन्दिर पर ही धरना देना उचित समझा तब मीरा बाई ने ब्राह्मण वर्ग से कहा कि मैं रणछोड़ जी से आज्ञा प्राप्त कर लूँ तब तुम्हारे साथ चल सकूंगी। बड़े भक्ति—भाव से इनने कीर्तन प्रारम्भ किया और कीर्तन करते करते ही मन्दिर में सर्वत्र दिव्य प्रकाश आलोकित हुआ। मन्दिर दिव्य प्रकाश से जगमगा उठा और भक्तवृन्द इस महान्, अद्भुत, आश्चर्य से चकित हो गए। सबके देखते देखते मीरा बाई श्री रणछोड़ जी के श्री विग्रह में लीन हो गईं, समा गईं, और भक्तजनों के प्रमाण के लिए मीराबाई की चूँदड़ी का एक पल्ला बाहिर श्री रणछोड़ जी की मूर्ति के पार्श्व में दिखाई दिया।[8]

मीराबाई के सदेह मूर्ति में समाने के समय का बाँधवेरा रघुराज सिंह कृत भराम—रसिकावली में एक पद जनलछमन जी ने इस प्रकार लिखा हैः—

आई छूँ राजा रणछोड़ शरणै थारै आई छूँ।।
हित सूँ ब्राह्मण भेज दिया रे लावो मेड़तनी बहोड़।
धरम—संकट दिया ब्राह्मण बैठियो मन्दिर में दौड़।।
आपणी ढिंग राखि साँवरा विनती करूँ कर जोड़।
कै मैं पाछी जाऊँ जगत में भारी उगा सूरज करोड़।।
ऐसा रूप देख कृष्ण को आई मन्दिर दौड़।
नीर खीर ज्यों मिल गया सजनी परमानन्द की ओड़।।
जनलछमण साँचा जु जगत में धनि मीराँ राठोड़।।

तदुपरान्त ब्राह्मण मण्डली ने मीरा बाई की, जो वस्तुऐं दान देने योग्य थीं उन को दान करके, श्री गिरधर गोपालजी की मूर्ति लेकर उदयपुर लौट आए। ब्राह्मणों ने आकर द्वारका में घटी घटना को सुनाई तो महाराणा व जनता इस अद्भुत घटना को सुनकर चकित हो गए।

श्री गिरिधर गोपाल की मूर्ति को महाराणा ने जनानी ढ्योढी के महलों में पधरा दी, जहाँ पर आज तक उनकी सेवा पूजा एवं बालभोग आदि का प्रबन्ध चल रहा है।[9]

महाराणा उदय सिंह जी की मृत्यु संवत् 1628 में हुई और उदयपुर के सिंहासन पर वीर–शिरोमणि, भारत–सूर्य, श्री महाराणा प्रताप मेवाड़ की गद्दी पर बिराजे।

सन्तों की उच्छिष्ट उक्ति है मेरी बानी।
जाणूँ उसका भेद भला मैं क्या अज्ञानी।।

(सन्त तुकाराम)

श्री तुकाराम जी के उपरोक्त कथनानुसार, मीरा बाई के जीवन पर लिखने का साहस जो हुआ सो सब उसी परमपिता की प्रेरणा है जो कि – ''**मूकं करोति वाचालम्**'' की शक्ति प्रदान करता है। प्रस्तुत आलेख, उसी की प्रेरणा का एक नमूना है। भक्तों के नाम और गुण अनिर्वचनीय हैं।

1. कुछ एक ग्रंथकर्ताओं ने मीरा बाई की माता की मृत्यु, जल्दी ही इनके बाल्यकाल में होना लिखा है किन्तु भक्तमाल में श्री प्रियादासजी ने उक्त टीका में विवाह के बाद तक माता का जीवित रहना स्वीकार किया है और स्वयं इनके पदों से भी इस घटना की पुष्टि होती है।
2. मीरा बाई के विवाह के सम्बन्ध में, इतिहासज्ञ कर्नल टाड ने, जनश्रुति के आधार पर मीरा बाई को महाराणा कुम्भा की रानी होना लिखा है और अनेक, भाषा के विद्धानों ने भी इसको आधारभूत मानकर अपने ग्रन्थों में भी ऐसा लिख डाला हे जिससे कि आज कल लोगों ने इन्हें राणा कुम्भा की महारानी होना लिख दिया है, जो कि भ्रामक है। म.म. पंडित गौरीशंकर हीराचन्द जी ओझा ने ''उदयपुर राज्य के इतिहास'' में लिखा है कि – महाराणा कुंभा परम–भक्त वैष्णव थे और इननें जयदेव कृत ''गीत गोविन्द'' पर ''रसकप्रिया'' नामक टीका लिखी व चित्तौड़ किले पर श्री कुम्भश्याम का मन्दिर बनवाया। वस्तुतः मीराबाई का जन्म महाराणा कुंभा की तीन पीढ़ी बाद होना तथ्यों से स्पष्ट है।
3. यह महल महाराणा कुम्भा के महल का अंग रहा, जो कि किले की दीवार पर आज भी जीर्ण शीर्ण अवस्था में विद्यमान है।
4. मन्दिर बनने से पहले मीराबाई निज के रनिवास में ही भगवान की पूजा किया करती थी।
5. सन्त रैदासजी की छत्री (Cenotaph), मीरा बाई के मन्दिर के सामने बनी है और इसमें चरण प्रतिष्ठित हैं।
6. राणा और सीसोदिया को सम्बोधित करके मीरा बाई ने जितने पद लिखे हैं वे सब इन्हीं विक्रमसी के व्यवहार पर लिखे गए हैं।
7. जयमल जी की वीरता का इतिहास प्रसिद्ध है और कहा जाता है कि इनका मस्तक जब धड़ से अलग हो गया तब भी ये धड़ से ही तलवार चलाते और लड़ते रहे। इनकी स्मारक छत्री (Cenotaph), आज तक किले की चारदीवारी में बनी हुई स्थित हैं।
8. मीरा बाई रणछोड़ लाल जी की जिस मूर्ति में समाई थी, वह मूर्ति अब गुजरात में डाकोर में है और श्री रणछोड़ जी के नाम से विख्यात है।
9. पीताम्बर जी का मन्दिर उदयपुर की जनानी ड्योढि में है, जहाँ स्वर्गवासी महाराणियों की पूजा की अन्यान्य मूर्तियाँ भी सेवा पूजा के निमित्त स्थापित कर दी जाती हैं।

जय जय जमुआ माता

–राजगुरु कथाभट्ट जगदीशचन्द्र शर्मा

अतीत, दर्शनातीत होते हुए भी, प्रत्यभिज्ञा का सहायक होता हुआ, किसी भी प्रवृत्ति की खोज करने की ओर उन्मुख करता रहता है। आदमी, आदम से अपना सम्बन्ध जोड़ने को, परम्परा की सोपान चढकर, उन्नत होना चाहता है; मनोयान से आकाश में चढकर, तारे बटोरना चाहता है। सुना है चाह की कहीं कोई अन्तिम सीमा नहीं, इसी भरोसे पर विश्व भी बनता बिगड़ता है और मानव उन दृश्यों को देख–देखकर मुग्ध हो अपने आप को भुला देता है। चेहरे देना या उन्हें बदलते रहना, यह नियति का स्वभाव है, प्रक्रिया है किन्तु उनकी पहचान करना बौद्धिक करिश्मा है।

आमतौर पर मनुष्य, अपने को सर्वतन्त्र स्वतन्त्र मानने का अभिमान करता हुआ मंजिलें तय करने को कूदता फाँदता है। मालूम पड़ता है कि इसकी कोशिश कभी–कभी सफल हो जाती है और फिर ये युग–पुरुष कहलाने का हकदार हो जाता है। झरोखे में बैठकर देखने पर दूर–दूर का दृश्य साफ नजर आता है और आकाश में उड़ने वाली चील व कौवों का उड़ना देखकर वह अपना लक्ष्य भी लगा लेता है चाहे उसका इरादा अच्छा हो या बुरा हो।

बुरे इरादे वाला हिंसा में विश्वास करता है और अपने को सर्वोपरि मानकर उन उडते पक्षियों पर भी निशाना लगा बैठता है। निशाने पर प्रहार सही बैठ जाय तो वह सफल शिकारी अपने को समझ लेता है और असफल होने पर हाथ भींच कर पछताने लगता है, दुःखी होकर अपनी अकर्मण्यता को स्वयं पहिचान कर बार–बार उसे झुठलाने को, अन्यान्य कारणों के अभाव का निर्देश कर बैठता है किन्तु स्वयं की कमजोरी उसको अन्तर में कचोटा करती है।

कितनी ही बातें ऐसी हैं जिनका रहस्य जाना जा सकता है। रहस्योन्मुखी प्राणी, खोज लगाने में अपने तन, मन, प्राण न्योछावर कर, अनुगामी को आगे ढूँढने का रास्ता बता देता है। गमन का आगमन, अन्वेषण या प्रत्यन्वेषण, प्रकृति की मानव को देन, सब मिलकर एक ऐसा तूफानी अम्बार खड़ा कर देती हैं कि जिस सागर का छोर ही दिखाई पडना मुश्किल हो जाता है। मुश्किलातें हल करने में दत्तचित्त मानव सोचता है कि क्यों न मैं रास्ता बुहार दूँ जिससे आगे आने जाने वाले कठिनाई में न पड़े।

इस तरह मनुष्य खोज करके नई–नई दिशाओं में अपने कार्य का विस्तार कर लेता है और खोजी वस्तु, स्वनिर्मित मूर्ति, अधूरी छोड़ देता है तो वह न्यास आगे आने वाली पीढियों के काम आता है। धरोहर तो दूसरे के हक की चीज है और उसे सुरक्षित रखना एक ऐसा कठिन काम है जिसमें हाथ–पल्ले कुछ भी न पड़कर, यह तोहमत सिर पर सवार रहती है। शरीर भी माता–पिता का छोड़ा गया न्यास है और उस शरीर को ढोकर सुरक्षित करते रहने वाले सभी उपन्यास हैं। आगे–आगे अपनी संतानों को मूर्त या अमूर्त न्यास देकर आने वाला चला जाता है। जो चीज़ हमारी नहीं, पराए की है उससे हमें क्या लेना–देना, हम कब मना करते हैं कि न्यास का मालिक अपनी चीज़ को न ले जाय। हमें तो खुशी है कि जिम्मेदारी की झंझट से हम मुक्त हो जायें क्योंकि हमारे समीप सामने रखने पर भी, उसको हम खो न दें, इस बात की आशंका में मन–प्राण, पराए हो जाते हैं ।

'प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा'', का महाकवि कालिदास, अपने पास रखे कन्यारूपी पराए धन को उसे सौंपकर कैसी सुखानुभूति का आनन्द उठा लेते हैं । अच्छा हो, जिसकी रखी हुई हमारे समीप की वस्तु, वह स्वयं आकर उठा ले जाय किन्तु यदि हमारे विचार और मस्तिष्क में किसी का न्यास घर कर गया हो तो बताओ कैसे उसे लौटाऐं । जो विचार अपौरुषेय वेदों ने, हमारे जीवन प्रकाश करने को दिए, क्योंकि वास्तव में वे विचार हमारी बुद्धि की उपज नहीं है फिर लौटाने का क्या तरीका यह हो सकता है कि हम बार–बार उन विचारों को प्रकाशित करते समय यह डिण्डिम घोष कर दें कि उक्त धारणा हमनें वेद भगवान के इन वचनों के आधार पर बनाई है। इसमें चोरी कहाँ हुई। मैं पूछता हूँ, मेरा हलकापन तो जरूर इसमें दिखाई पड़ जाता है किन्तु हमारी सर्वज्ञता तो पर्दा उठते ही, पराई फूँक से बाजने वाले शंख की ध्वनि बनकर काफूर हो जाती है। मूल से बना, मौलिक शब्द भाषा जगत् में आजकल अत्यन्त व्यवहृत होता है और यह पता नहीं पडता कि इस मूल की परम्परा का बीज हमारा है या इसका बीज किसी का न्यास है। जिसे जल देकर सींचने वाले हम माली हैं।

उलझनों से बाहिर निकलकर आज हम में रखे न्यास को हम उजागर कर रहे हैं यही कहने या लिखने का सारांश है। जिसका भी हो उठा ले जाय, ताला

जुड़वाकर घर में रख ले, जमीन में गाड़ दे। इस प्रकार यदि गोपन करना अभीष्ट न हो तो माल बिखेर कर लुटा दे, व इस पर से अपना मालिकाना हक छोड़ बैठे। जब सार्वजनिक भाव से वस्तु लुटा दी गई तो जिसको जहाँ पड़ा मिला वह रत्न मिल जाय वह उस प्राप्त करने वाले की अधिकार वस्तु है।

व्यर्थ में बहुत थकाकर, उलझनें डालकर, किसी को असमंजस का मौका देना उचित नहीं किन्तु बात कहने वाला सच्ची घटना में भी, अपना नमक–मिर्च लगाकर, सुनने वालों की दाद सदा से ही लेता आ रहा है। क्योंकि रंजन, अतिरंजन तक पहुँचकर अपने स्वत्व की उज्वलता बढा लिया करता है या उसे कभी–कभी आत्मसात् करने का बाना पहिन लेता है। आमतौर से–कथा, आख्यायिका, वार्ता का व्याख्याकार–बीती बातों को भी अपने ही दृष्टिकोण से आँकता देखा गया है। जहाँ–तहाँ बिसरे जीवन के क्षण बटोरने में पड़ती कठिनाई का भेदन करने वाला अनुभव करता है कि मानों मैंने कोई नया शगूफा गढ़ लिया है।

गढ़ने का अर्थ है, एक सपाट पत्थर को लेकर, छैनी व हथोड़े से उसमें आकृति उभारना। कितने ही मानते हैं कि उसमें वह आकृति पहिले से मौजूद थी, जिसका आवरण कलाकार ने दूर कर दिया। पारखी कहते हैं कि इस निर्माता की बुद्धि का वैभव तो देखो, एक उपेक्षित नाचीज पत्थर में, कैसी जान डाल दी। कहाँ से भगवान, परी या कमल चित्र उभर आता है पत्थर में, इसमें हमें तो वह क्रिया रचयिता के मस्तिष्क की उपज दिखाई देती है। यह तो कलाकार निर्मित भौतिक वस्तु के रूप सँवारने की बात हुई किन्तु अगर छहों ऋतुओं की रद्दोबदल को जंगल में जाकर प्राणी देखे तो उसे प्राकृतिक कलाकार का अस्तित्व, घास, पेड़ पौधे में विकसित कारीगरी, जमीन पर बिखरी, बेभाव पशुओं द्वारा चरी जाती, दिखाई देगी। जंगल में मंगल का दृश्य सहृदय द्रष्टा को मुग्ध कर लेता है चाहे वो वासन्ती सुषमा हो, ज्येष्ठ की गरमी में झुलसकर घने पेड़ों की छाँहवाला छोटा सरोवर का किनारा हो, वर्षा का हरित परिधान धारण करनेवाला भूमि का वैभव हो, या सर्दी के दिनों में धूप का आनन्द बिखर रहा हो आदि।

मैं सोचता हूँ कि इस प्रकार की सम्पत्ति, प्रकृति द्वारा सहज की जाकर, हर क्षण त्यागपूर्वक शोभा को लुटा देना या अवधि समाप्ति पर नष्ट कर देना, प्राकृतिक निष्पादन व विनाश का गौरवपूर्ण खेल है। ममता का अधिकार अपने बगीचे तक ही सीमित है। बगीचे का मालिक अपने मनोविनोद के लिए पेड़, पौधे लगाया करता है और उसे एक–एक पेड, पत्ते, फूल, फल से मोह होता है। कोई चोरी छुपके फूल तोड़े, फल चुरा ले जाय तो वह हंगामा मचाकर शोरगुल करता है और दरवाजे बंद कर, आवागमन के स्वतन्त्र व्यापार को, जन–जन के लिए, पशुओं के लिए अवरुद्ध कर देता है। यह उसका एकाधिकार, प्राकृतिक सुषमा को कैद करने जैसा एकांगी रूप है, जिसका अधिकारी वह अपने के अलावा अन्य को नहीं बनने देना चाहता।

किसान, खेत में बीज बोकर उसके मेड़ लगा देता है, जल सींचकर, बोए बीजों को पनपाता है। थोड़ा सा मुख निकलते ही, कंघी करके उन्हें सँवारकर, ऊपर बढाने का उपाय करता है। ननाणी करके फालतू उगी घास को निर्ममता से उखाड़ फेंकता है और फिर सूखी मिट्टी में ही धोरे धोरी बनाकर जल आप्लावित कर देता है, इन सबको इस प्रकार बल मिलने पर धान के पौधे लहलहा जाते हैं। बढ़ते हैं, दहँगिया आती हैं, यदि मोर, चिडिया आदि दँहगी को लूटने आती है तो दिन भर हाके लगाकर उनका वह निवारण करता है। पक जाने पर स्वयं दातरी हाथ में लेकर, खुद के रोपे पौधों को भी निर्ममता से काट कर ढेर लगा, बैलों से कुचलवाया करता है। यह सब मनुष्य–मात्र की स्वार्थवृत्ति का निर्माण व विध्वंस का साल में दो बार होते रहने का नमूना है, जिससे कि प्राणीमात्र का पालन व पोषण सहज ही हुआ करता है। अधिक उपकार के फल पाने में, क्षुद्र विनाश भी एक जगत निर्माण में आवश्यक अंग है। इसीलिए साहित्यकारों ने राजा व माली या किसान के कार्यों में तुलना की है। परोपकार के संवर्द्धन में, बीच में, रोड़े अटकाने वाली सभी क्रियाओं में एक प्रकार से हिंसा व अहिंसा (पालन व विनाश) दोनों का समान योग है।

मैं अपना न्यास आपके सम्मुख वैसे ही रखने को उतावला हूँ, जैसी उतावली कच्छवा–वंशीय क्षत्रियों ने जयपुर–नगरी का निर्माण कर आप सभी के आवास की सुविधा देकर की। यदि हम ढाई सौ वर्ष के अतीत में जाऐ तो पुरुषायु प्रमाण से 2 दफा जन्म लेकर, आयु शेष कर तीसरे जन्म में बरतने के समान है। प्रकृति का खेल देखिए कि यदि हमें पूर्वजन्म की स्मृति होती तो हम अपनी पुरानी संपत्ति पर मालिकाना हक बताने को आतुर होते और तीसरे या चौथे पाँचवें जन्म तक के अनेक कानूनी बखेड़े खड़े करते किन्तु कर्तार तो समझदार है, उसने पूर्वजन्म संस्कारों की याद ही हमारे मस्तिष्क में नहीं रखी। अगर कदाचित् अपवाद रूप में, हाथी आदि जानवरों या मनुष्यों में कुछ पूर्वस्मृति के चिन्ह रहे पाए भी गए तो

उनका इतना सा नतीजा हमारे लक्ष्य में आ पाता है कि पुनर्जन्म आत्मा का हुआ करता है। आवागमन का सिलसिला भारतीय धर्म के सिद्धान्त में वर्णित है।

प्राचीन रामगढ़ का सरोवर व गाँव, अरावली की तलहटी में बसा हुआ है। यहाँ के आमने सामने खडे दो पहाड़ों के बीच में होकर एक विशाल नदी का प्रवाह बहता आया है, जिस पर बाद में बाँध बनाया गया। दाँई ओर की पहाड़ी पर एक शिलाखण्ड़ में देवी प्रतिमा उत्कीर्ण है, ऊपर घेर घुमेर पेड़ हैं, चरवाहे भैंस बकरी चराने ऊपर तक जाया करते हैं। करीबन 10वीं ईसा की शताब्दी की बात है, राजपूत लोग उस जमाने में अपना छोटा मोटा गिरोह बनाकर जंगल में शिकार करने निकला ही करते थे। एक गिरोह ऐसे ही कछवा–खाँप वाले क्षत्रिय या राजपूतों का शिकार खेलता उधर आ निकला और पहाड़ी सौन्दर्य या जल का आसरा देखकर, शिकार आदि करने को पर्याप्त जँगली जानवरों का आवागमन का ठाँव देखकर वहीं पर आ टिका। यायावर जाति के समान, पुराने लोगों का गिरोह, मय परिवार के दूर–दूर तक निकल जाया करता था, उसी प्रकार के संयोग से ये गिरोह यहाँ आया। साथ में कुछ ऊँट व घोड़े–घाड़ा भी इस काफिले में थे। कई दिनों के आवास स्थल के लिए यह स्थान उचित देखकर गिरोह के मुखिया सोढदेव ने आदेश दिया कि कटक–आवास यहीं बनाया जाय।

ऊपर डूँगर पर रहने पर, हिंसक पशुओं से सभी परिवार व साथियों का बचाव, दुश्मन के दर्रे पर आने का परिचय व समुचित निदर्शन भी, यहाँ से हो जायगा यही निर्णय इन सब लोगों का था। एक बाड़ा, पशुओं के बाँधने का काँटों की बाड़ लगाकर ऊपर के समतल मैदान में, शिविर के आवास के निमित्त बना लिया। किंवदन्ती है कि – एक रात सोते समय सोढदेव को स्वप्न हुआ कि इधर–उधर भटकने से क्या फायदा, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगी, ऐसा अष्टभुजा देवी जगदम्बा ने उसे कहा। आत्म परिचय भी दिया कि मैं जंबू खंड की वनदेवी जमुआ माता हूँ। उसी दिन से वहाँ भगवती के लिए एक मढीनुमा छोटा मंदिर बनाकर, उस प्रतिमा की पूजा ये सब वहीं करने लगे। पहिले पहले करीब एक कोस दूर के ग्राम पर, सोढदेव ने धावा किया और इसे वशीभूत कर रामगढ़ के पर्वत पर, अपना गढीनुमा एक किला बनाकर ये रहने लगे।

भगवती जमुआ माता की असीम कृपा से ये गिरोह इतना शक्तिशाली हो गया कि यहाँ के आसपास के गाँव जीते जाने लगे और इधर–उधर की दस–दस कोस की जमीन जीतने का विश्वास इनको हो गया।

एक दिन रामगढ के किले के चौक में बैठे सोढदेव अपने पुत्र काकिलजी से कहने लगेः–

सोढदेव – पुत्र, कहाँ से कहाँ तक यात्रा करके नखर से कच्छ की खाड़ी में आये डूंगरपुर, जोधपुर, साँभर आदि पार कर हम किस नक्षत्र पर यहाँ आए कि भगवती जमुआ माता की कृपा से आज मेरे पास 200 घोड़ों का तबेला 10 हाथी 100 ऊँट और 500 आदमियों की पैदल सेना सदा युद्ध करने और शत्रु पर हमला करने को तैयार है। क्यों न हम हराभरा दौसा–लालसोट का प्रान्त भी कब्जे में कर लें। हमने ये सब गाँव मीनों और जाटों को जीतकर कब्जे में किये हैं जिनसे हमारा व सेना का खर्च चल रहा है।

काकिला – पूज्य दाता, आपके साहस और पराक्रम के आगे बड़े–बड़े ठाकुर, सामन्त, जागीरदार आज नत–मस्तक हैं। खानाबदोशी और लुटेरों जैसी आज हमारी हालत नहीं रही और आगे आपका विचार बहुत उत्तम है। हम लोग किले की रक्षा का इन्तजाम कर, आगे बढ़ें।

सेना की रसद आदि साथ लेकर दौसा लालसोट पर धावा किया गया व एक तरफ से हाथी घोड़ों से और दूसरी ओर से पैदल सैनिकों ने दौसा को घेर लिया। छोटी सी बस्ती में कुछ मीणा लोग तैयार होकर मुकाबले में आए, युद्ध हुआ और अन्त में हार मानकर इलाका सौंप दिया गया।

करीबन सौ–सवासौ योद्धाओं के काम में आ जाने पर उनके वंशों को कुछ जागीर दी गई जिससे बाकी बची औरतें व सन्तानों का पालन हुआ। राज श्री सोढदेव जब युद्ध में कामयाब होकर घायल अवस्था में प्राण छोड़ चुके तो काकिलजी ने राज सँभाल लिया। उन दिनों मुगलों का शासन भारत भर में चल रहा था। इधर श्री भारमलजी ने जन्म लिया तो उनका चोटी जड़ूला उतारने सभी लोग जमुआ माता पूजने आए। यहाँ कुछ दिनों से मंदिर में एक सन्यासी अपनी साधना कर रहे थे। इनका नाम विमलानन्द पुरी था। ये तपः प्रभाव से भूत, भविष्यत् के ज्ञाता थे और इनके यहाँ आराधना करते समय काकिलजी की ओर से सीधा या पेटिया दिया जाता था इसी कारण ये इस राजवंश की अत्युन्नति पर अपना ध्यान रखते थे। जब भारमल का जड़ूला (चौलकर्म संस्कार) उतारने के बाद, अवधूतपुरी का नमन करने का अवसर आया और बालक ने आपके चरण छुए तो आशीर्वाद देते समय काकिलजी को सम्बोधन करके कहाः–

वीरवर। तुम वास्तव में भगवान रामचन्द्र के पुत्र कुश से संबद्ध हो, इसीलिए कुशवाह या कछवा मारवाड़ी भाषा में कहे जाने लगे, चाहे आप कच्छ से ही क्यों न आए किन्तु तुम्हारा राजवंश समुज्ज्ज्वल है। जिस राज्य को रामगढ़ में जमाकर दौसा लालसोट तक बढा लिया ये तुम्हारा स्वयं का कर्तव्य है।

काकिलजी – गुरुदेव, हम सब की सुरक्षा अपने तपोबल से आप करते रहे उसके हम आभारी हैं किन्तु हे महाराज, इस बालक का आगे का भविष्य कैसा है। यह प्रश्न पूछने को मेरा मन आकुल है।

गुरुदेव – सामन्तवर, इस बालक के भविष्य के बारे में मैं भगवती से अर्ज कर कल तुम्हें माँ की आज्ञा बतला दूँगा, आज तुम अपना उत्सव मनाओ।

नमस्कार कर राजा रामगढ किले में आए और सभी राणियों ने अन्तःपुर में आपकी आरती उतारी, बधावे गाए गए। ढोलनियों, भाँडों ने गीत गाए व हँसने का कार्यक्रम किया। मैरेय आसा वगैरह की बोतलें खुलीं और भोजन के नाना व्यन्जनों के थाल आरोगे गए। विशेषरूप से पहाड़ पर रोशनी की गई।

दूसरे दिन प्रातःकाल राजा काकिलजी गुरुदेव की सेवा में पहुँचे तो समाधि मग्न उन्हें देखकर चुपचाप भगवती का जाप स्वयं करते हुए बैठे रहे। करीब दो घंटे बाद समाधि के उतर जाने पर समीप हाथ जोड़े राजा को बैठे देखा।

गुरुदेव – राजन्भगवती की आराधना समाधिस्थ होकर करने पर मुझे आज्ञा मिली कि उक्त राजकुमार बड़ा वैभवशाली होगा और ये अपने राज को उत्तर में अधिक बढ़ाकर उत्तर के पहाड़ से आवेष्टित – 'अम्बर या आमेर' नामक स्थान पर अपनी राजधानी कायम करेगा। बलशाली व धर्मनिष्ठ उक्त कुमार एक ऐसे विशाल राज्य की नींव डालेगा जिसका अपना स्वतन्त्र राज्य दिनों–दिन फलता–फूलता करीबन एक हजार वर्ष चलेगा। पर तुम प्रजा के हित को लोकतन्त्र के समान सर्वोपरि समझो।

महाराज – भगवन् आप त्रिकालदर्शी हैं और भूत, भविष्यत्, वर्तमान आपको स्पष्ट करतल–आमलकवत् दिखाई देता है । एक हजार वर्ष राज्य चलते रहने का आशीर्वाद कम नहीं है। एक सत्ता के उदय व अस्त होने की अवधि। क्या मैं गुरुदेव से जानकारी के लिए पूछ लूँ कि सामन्ती शासन व लोकतन्त्र में क्या फर्क है।

गुरुदेव – राजन्ये मानव की विचारधारा के पथ हैं, जो निरन्तर काँटों की झाड़ी जैसे हैं, जिनमें प्रविष्ट होने पर अंग–अंग छिद्राविष्ट होकर सूचीवेध संस्कार के समान भीषण कराह उठाता है। राजन्, विषय बडा गम्भीर है और देश, काल की परिस्थितियाँ चक्रवत् इनमें परिवर्तन ला देती हैं।

सोचिए, राजा क्या होता है – **'राज्यतेत्यसौ राजा'** राजते का अर्थ है 'सवीत्कर्षेण द्योतते'। सूर्य जिस तरह सबके मस्तकों पर बिराजता है, वह सर्दी में सुखमय धूप से प्राणी के हृदय का शीत कमान घटाता है और गर्मी की मौसम में ऐसा ताप देता है कि घड़ी भर धूप में ठहरना मुश्किल हो जाय।

प्रजा क्या है। कोषकार ने बताया है कि **'प्रजा स्यात्सन्ततिर्जने'**, **'प्रकर्षेणजायते – इति प्रजारू'**, जो कसरत से ज्यादा बाल–बच्चे दुनियाँ में रोज़ बरोज़ पैदा होकर, अपनी तादाद को बढ़ाते रहते हैं, ऐसे सामान्य जन । दूसरे, एक शासक के अधीन देश–प्रदेश के सभी नर–नारी। तीसरे, खुद की सन्तान। छोडिये आगे के भविष्य को और वर्तमान की रक्षा कीजिए। महाराज साष्टांग नमस्कार कर पुनः शीघ्र उपस्थित होने का संकल्प कर वहाँ से बाहिर निकलते हैं।

किले में पहुँचकर आगे राज्य बढाने की सलाह मन्त्रिगणों से करते हैं। मन्त्रिगण कहते हैं कि कुछ दिन निजी सेवा आदि को मजबूत बनाने में लगाए जाएँ ।

जड़ को चेतन जो करै, विद्या आदि प्रदान।
ध्याऊँ उस चित् शक्ति को, संविद् करूँ प्रणाम।।
सरस्वती, धरणी यही, जीव जगत् की खान।
सृष्टि जम्बु सा रसझरै, खण्ड–खण्ड में प्राण।।
जम्बुद्वीप, भारतमही, अम्बर प्रांत लखात।
अमृतपान, करा रही, जय जय जमुआ मात।।
कछवाहा राजपूत सब, आते तब दरबार।
सोढदेव सपनों फल्यो, कृपा करी हरबार।।
अम्बा अम्बर जा चढ़ी, धर्यो शिलामय रूप।
शिलादेवी, जय कालिके, रक्षा करौ अनूप।।
अन्धकार मेटत सकल, विमल किरण के तेज।
जीवन–दिवस उगा रहे, सूर्य आपने तेज।।
प्रातः बालातप पटल सुषमा देख निहाल।
कमल हृदय पट खोलता खिलता यही कमाल।।

महाशक्तिश्री दधिमति - कुलदेवी

–राजगुरु कथाभट्ट जगदीशचन्द्र शर्मा

समर्थ कौन है इसका उदाहरण– **'दधिक्राव्णोह्मकारिणाम्'** मंत्र के अर्थ से प्राप्त होगा, जिसके अन्त में **'दधिमानस्तु सूर्यः'** पद आता है । जो धारण करता है अर्थात् धारणायुक्त है वह सूर्य है। **'दधिमान'** का अर्थ– समस्त जीव जगत में जो व्यापक है और उक्त व्यापकता का स्थल उदाहरण सूर्य–भगवान में संग्रहीत है। दधिमान शब्द का अर्थ जब शक्ति परक किया जायेगा तो उक्त शब्द **'दधिमति'** बन जायेगा। शक्ति शक्तिमान में रहती है और गुण रूप से, जहाँ भी आप इस शब्द का अर्थ करने जाऐगे वहाँ यह सामर्थ्य समर्थता का भाव स्वतः स्त्रीलिंग में ही बोला जाएगा। परमात्म शक्ति परमेश्वरी है। स्त्री और पुरुष का व्यावहारिक भेद है क्योंकि पुत्र व कन्या का जन्म माता के उदर से ही नैसर्गिक रूप में होता आया है और इनकी आत्मन् के स्वरूप में एकता है। देखा होगा जो नर की आत्मा है। वह नारी की भी, कहीं भेद नैसर्गिकता में नहीं है। अतः शिव–शक्ति में जैसे भेद नहीं और इकार की मात्रा हटाते ही 'शव' शब्द में परिणति हो जाती है अतः **'शक्तिशक्तिमतोर्भेदः'** कहीं प्राप्त ही नहीं है। जब विश्व की सामर्थ्य हम विश्वकर्ता के गुणों के विवेचन के समय उससे अलग करके देखना चाहेंगे – जैसे मैं पुरुष हूँ तो मेरे गुण व विशेषता मेरी शक्ति पर आधृत हैं – अतः अलग से विवेचन करने पर उसका मेरी शक्ति कह कर, स्त्रीलिंग में ही व्यवहार करना पड़ेगा।

पृथ्वी, धरणी, भूमि आदि को भारतीय साहित्य में माता के रूप में ही बताया गया है। जो लोग 'पितृलोक' के मानने वाले हैं वे अधूरे हैं। माता से चलने वाली वंश परम्परा का उनमें नितान्त अभाव है और कुल नाम से वे कभी कुटुम्ब की जिम्मेवारी निभाते ही नहीं दिखाई दिए। भारत में पितृलोक, मृतात्माओं का लोक कहा जाता है और उसे ही पितृ–भूमि कहते हैं। धारण करने की प्रबल सामर्थ्य धरणी या भूमि में है और स्त्रीलिंग में ही इसका व्यवहार होता आया है। इससे ही 'धात्री' नाम से कहकर महामहोपाध्यायजी पं. शिवदत्त महाराज ने **'दधिर्भक्तजनान् धात्री'** कहा है जो सूर्य की शक्ति पृथ्वीरूप में प्रत्यक्ष है। जो समस्त–सृष्टि के पदार्थों को धारण करने, उत्पादन करने की सामर्थ्य रखती है अतः सर्व समर्थ 'पृथ्वी, धरा' भी 'दधिमती' है। आपने गोठ मांगलोद मातेश्वरी का विग्रह 'दुग्ध–स्नान' के समय देखा होगा। उनकी आकृति अधूरी उषाः काल के सूर्य भगवान के समान है। वैसे इसे शिव–शक्ति के संयुक्त रूप में भी आप देख सकते हो। भक्तों की भावना से ऊपर रखे जाने वाला रूप चाहे स्त्री आकृति का हो – वे अर्धांगी शिव–शक्ति का स्वरूप हैं।

शक्ति सहित पुरुष सशक्त है और उपासना क्रम में शाक्त हो जाता है। चार पुरुषार्थों में – धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष गिने जाते हैं और भक्त लोग भगवती से– मोक्ष कामना की अभिवान्छा जब करते हैं वे सर्वथा चाहे नररूप वाले हों अपने को शक्ति विग्रह के समर्पित होने के कारण, शाक्त या 'दधिमथ' कहे जाते हैं। उस दधिमथी क्षेत्र में जन्म लेकर यंत्र तंत्र उद्योग में निकलने वाले सभी जाति के व्यक्ति, दधिमथ प्राकृत में दाहिमह आदि कहे जाते हैं। दध्यंक यदिध्याः ब्राह्मणाः से भी तात्पर्य, क्षेत्र विशेष में रहने वाले ब्राह्मणों का बोध होता है, जो विक्रम की छठी शताब्दी के प्राचीन शिलालेख से स्पष्ट है। दधिमती की पूजन व अर्चना ध्यान करने वाले महर्षि दानवीर श्री दधीचि ऋषि भी, 'दधि' शब्द से सूर्योपासक बने, जिन्होंने सूर्य की ऊर्जा–शक्ति का दर्शन किया और 'तच्चक्षुर्देवहितंम् पुरस्तात्' कहा यद्यपि शक्ति व सशक्त की व्याख्या में बहुत कहने बताने को है किन्तु विस्तारभय से मोटी–मोटी बात (स्थूल रूप में) यहाँ कहकर अब हम पाठकों को प्राचीन स्तुतियाँ, जो बहुत वर्षों से दधिमति पत्रिका में प्रकाशित होती आ रही हैं, का यहाँ जिक्र करने व कुछ उद्धरण व इतिहास बताने का संकल्प रखते हैं। एक बात जो पिछली रह गई वह बताना आवश्यक है और वह है– प्राण व पराक्रम में शक्ति की पहचान। 'प्रणिति–श्वसिति' इस प्रकार से सृष्टि में जन्म लेने पर प्राण–शक्ति की प्रमुखता है। बगैर श्वासोच्छवास के लिए कोई प्राणी जीवित नहीं रह सकता और आज तक पराक्रम प्राणी को प्राणों में संजोई शक्ति सामर्थ्यपरक ही माना जाता था किन्तु आज वह सिमटकर केवल पदार्थ अणु परमाणु शक्ति में ही समा गया है। आयुध बल मात्र खोजने की शक्ति का आविष्कार करने वाले ही रह गये हैं, प्राणशक्ति से उत्पन्न पराक्रम अब देह में न रहकर पदार्थ (वस्तु) में सिमट गया है।

'दधि' शब्द से 'मतुप्' प्रत्यय करने पर शक्ति का एकनिष्ठ तन्मयोभाव या

स्पष्टतः तद्रूप दिखाई देता है जैसा कोषकार ने प्राणरूपा शक्ति की ओर निर्देशन किया है। किन्तु पराक्रम रूपा शक्ति 'मथिन्' प्रत्यय करने पर 'दधिमथी' शक्ति में पूर्ण अभिव्यन्जित है। इसका महामहोपाध्यायजी ने भक्तों के कष्ट निवारण के लिए–उनके शत्रुओं का विनाश करने वाली भगवती, यह अर्थ किया है– 'तदरिमाथिनी' के रूप में 'सर्वशक्तिमति आदिशक्ति श्री दधिमती देवी के चरणकमलों में बारम्बार प्रणाम करता हूँ कि जिसकी कृपा से मुझे दाहिमा ब्राह्मण जातिमात्र की कुलदेवी के नाम से प्रकाशित होन वाले 'दधिमती' नामक त्रैमासिक पत्र की प्रस्तावना लिखने का अवसर प्राप्त हुआ। सच है कि पुरुष कई बातें विचारता है और उनको करने की चेष्टा भी करता है परन्तु वे बातें तभी सफल होती है जब श्री परमेश्वरी की इच्छा हो।

संवत् 1967 के चैत्र मास के नवरात्र में दाहिमा महाशयों ने अपनी कुलदेवी के चरणों में उपस्थित होकर जाति की उन्नति व सुधार के निर्मित एक महासभा स्थापित की और एक मासिक पत्र प्रकाशित कर समाज को जोड़ने का प्रस्ताव किया जो एक वर्ष बाद कार्यरूप में परिणत हुआ और इसे सर्वसम्मति से प्रारंभ में मासिक के स्थान पर त्रैमासिक पत्र कर दिया गया ताकि पत्र के चलने की संभावना बने।

इस पत्र के विषयों में महासभा में सर्वसम्मति से यह स्वीकृत किया कि इसमें निम्नलिखित विषय रखे जायें –

(1) मंगलाचरण।
(2) श्री दधिमती माहात्म्य।
(3) संस्कार।
(4) नित्यकर्म।
(5) प्रकीर्णक।

इसके अतिरिक्त अन्य प्रेषित पत्र, लेख, समाचार आदि जो स्वज्ञाति सम्बन्धी तथा उपयोगी आवेंगे, वे भी मुफ्त में छपा दिया जावेंगे।

समस्त सजातियों का सेवकः– पण्डित गोविन्दनारायण शर्मा, आसोपा, बी.ए. मंत्री दाहिमा महासभा प्रधान कार्यालय, जोधपुर (मारवाड़) जोधपुर, अक्षय तृतीया संवत् 1968।

उक्त 'दधिमती' पत्र में आगे मंगलाचरण शीर्षक – 'श्री गणेशस्तव' जो वैदिक मंत्र **'गणनांत्वा गणपति हवामहे'** के एक–एक अक्षर से बनाया गया है, केवल एक पद्य बानगी के लिए प्रस्तुत है।

'गताभिशंकोचङ्‌गघ्र युिगं न यस्यै – रणांगकोस्पि रूपाणि दशप्रणीय'।
नाम 'श्रयत्येष मखच्छत' – न्त्वामानमामो नितरां गणेश।।

अर्थः– जिन (गणपति) के चरणयुगल को चन्द्रमा भी निःशंक होकर नखों के बहाने से मानों अपने 10 रूप बनाकर आश्रय कर रहा है, हे गणपति । वैसे आपको हम निरन्तर प्रणाम करते हैं।

उक्त स्तोत्र प्रथम वर्ष के द्वितीय – अंक दधिमति मंत्र में समाप्त हुआ है, जिसमें 15 श्लोक हैं ।अन्त में लिखा है–

'इति श्रीयोधपुरस्थ दधिमथ कासल्योपाख्य धीरधुराणा माधवसुताशुकति पं. नित्यानन्दशास्त्रिकृतं गणेशस्तवं समाप्तं। स्वेष्ट देवतार्पणमस्तु।'

यह पहले अंक का प्रसंग प्रथम मंगलाचरण का विवरण है। इसके आगे नं. 2 में 'श्री दधिमती–माहात्म्य' की बानगी देखिए प्रथम अंक से ही।

श्री दधिमति महारानी की महिमा के जो 2 ग्रन्थ नागौर के डीडवाण्या तिवाड़ी पं. शिवनारायण जी से प्राप्त हुए हैं वे प्रथम प्रकाशित किये जाते हैं और इसके लिए उक्त तिवाड़ी जी को धन्यवाद दिया जाता है–

श्रीगणेशायनमः। ब्रह्मोवाच–

अथातः श्रूयतांवत्स पीठं कापालसंज्ञितम्।
यस्य दर्शनमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते।।
यत्र देव्याः कपालं वैययात वृषभध्वजात्।
ब्रह्मात्मकं महादिव्यं योगिध्येयं सनातनम्।।
महामायामहाक्षें पीठानां चोत्तमोत्तमम्।
सर्वतीर्थवरं चापि सिद्धिदं च ततो भवेत्।।
पुष्करादुत्तरे भागे योजनाष्टकमानतः।
महामायामहाक्षेत्रं वर्तते चातिपावनम्।।

अर्थ – श्री भगवान बह्माजी अपने प्रियपुत्र नारदजी से कहते हैं कि – हे वत्स। अब मैं 'कपाल–पीठ, की कथा कहता हूँ जिसके दर्शन करने से ही मनुष्य सब पापों से छूट जाता है।' जिस कपाल पीठ में श्री महादेव जी के हाथ से श्री भगवती का कपाल नीचे गिर गया जो कपाल बह्ममय महादिव्य, योगियों से ध्यान करने योग्य और सनातन था। महामाया का यह महाक्षेत्र सब पीठों में सबसे उत्तम है, सब तीर्थों से भी उत्तम है और सिद्धि को देने वाला है। पुष्कर से उत्तर की ओर आठ योजन अर्थात् 32 कोस पर महामाया का महाक्षेत्र अति पवित्र वर्तमान है।

'तत्र ब्रह्मकपालस्थ योगेशी योगतत्परा।
सर्वाकारा निराकारा पराशक्तिर्व्यवस्थिता।।
रहोदेशे महारण्ये एकवेषा सुरेश्वरी।
विराजते महादेवी कोटि ब्रह्माण्डविग्रहा।।
दर्शनं ये करिष्यन्ति पुण्यात्मानो दृढव्रताः।
निहत्य विपदं सद्यः सिद्धि यास्यन्ति मानवाः।।

अर्थ – 'जिस क्षेत्र में ब्रह्ममय कपाल में विराजमान योग की ईश्वरी योग में तत्पर, सर्व– आकारवाली, निराकार स्वरूप पराशक्ति विराजती है। सब लोकों के कल्याण के लिए और भक्तों को अभयदान देने के लिए, सर्व आकारवाली, निराकार स्वरूप पराशक्ति बिराजती है। गुप्त देश में बड़े जंगल में सुरेश्वरी महादेवी, कोटि ब्रह्माण्ड रूप शरीर वाली इकल्ली (एक रूप धर्ता) बिराजती हैं। पुण्यात्मा दृढवृत रखने वाले जो मनुष्य इसका दर्शन करेंगे वे तत्काल आपदाओं से छूटकर सिद्धि को प्राप्त हो जावेंगे।

यहाँ ऐसा समझना चाहिए कि महादेवजी अपनी प्रियतमा सती के मृत शरीर को लेकर सर्व जगत् में घूमे, घूमते–घूमते इस स्थल में सती का कपाल गिर गया कपाल गिरने से ही इस पीठ का नाम– 'कपाल पीठ' हुआ है।

उक्त प्रकरण – 'स्वतन्त्रतातन्त्र पटल में ब्रह्मयामल भाग में ब्रह्म व नारद के संवाद में बारह पीठों की उत्पत्ति नाम खंड में पच्चीसवाँ पटल समाप्त हुआ।'

इस पच्चीसवें पटल के आगे 'ब्रह्मा हरिहर मुनयः ऊचुः' बह्मा विष्णु शिव आदि भगवती सती के कपालपीठ एवं शिव–शक्ति की या आत्मशक्ति की स्तुति कर रहे हैं।

'निःशेषवेदगणगीत महोदयासि,
संवित्सुखैकघनमूर्तिरमूर्तिराधा।।
स्वतात्माभिरामपरिपूर्णसमस्तकामा,
श्यामा प्रसीदतु रमा तमसः परस्तात्।।
यन्नेति नेति निगमोपनिषत्स्वधीतं,
योगीश्वरैदि सदा विदितं तवेदम्।।
संवित्स्वरूपमपरं किल वेदवेद्यं,
भेद्यं करोतु दुरितं मम ज्योतिरम्ब।।
सृष्ट्वा समस्त जगदत्र महेश्वरित्वं,
पातु स्थित जननि। हे कृतयोगमुद्रा

अस्मिन्कपालभवने भुवनाधिवासा,
वासाय सा भगवती भवताद्धियौर्नः।।
त्वं भूसुरप्रकृतये किल वेदमाता,
योगस्य सिद्धय उत प्रणवात्मिकासि,
सिद्धयै समस्तजगतामसि षोडशार्णा,
विद्या परा दधिमथी मनसाभियुक्ता।।
माया परा भगवती कमला च बाला,
नित्यं नमः प्रणवसंपुटितासि नाम्ना।।
कण्ठे निविश्य जगतां जपतां जयाय,
वागीशवृन्दसदसामिह संस्फुरन्ती।।
प्रातर्निर्वेद्य गणापादिक देवरूपां,
ये त्वां भजन्ति परमात्मजपां जपेन्।।
दिकमात्रिकापरिवृतं स्वशरीर वृन्दे,
नादामृतं कवलयन्ति भवन्ति धन्या।।
त्वत्पादपद्मविगलन्मधु सिन्धुशिक्ताः।
संसारताप परिमुक्त पवित्रदेहाः
योग्या भवन्ति जगदम्ब तवार्चने ते।।
ब्रह्मदिदैवतागण स्पृहणीयदर्शाः।।

अर्थ – 'सम्पूर्ण वेदों का गण समूह–अर्थात् चारों वेद जिसकी महिमा गाते हैं, जो ज्ञान और सुख की एक सघन मूर्ति हैं, (स्वयं) अमूर्ति (अर्थात् निराकार) है, जो (सर्वप्रथम) आदि है, योगियों के समस्त मनोरथों को पूर्ण करने वाली है और तमोगुण से परे हैं, वह श्यामा नाम लक्ष्मी प्रसन्न होओ। जिसका वेद और उपनिषदों में नेति–नेति वर्णन किया गया है, जिसका योगीश्वरों के अपने ह्रदय में निरन्तर ज्ञान होता है, जो ज्ञान स्वरूप है, जो वेद से जानी जा सकती है, हे मात! वह तेरी ज्योति मेरे पापों का नाश करें। हे महेश्वरी, हे मात! तू इस समस्त जगत् को पैदा कर योगमुद्रा धारण कर जगत् को पालना करने के लिए समस्त भुवन में व्यापक होने पर भी इस 'कपाल पीठ' में वास करने के लिए बिराजती है वह भगवती हमारी बुद्धि को देने वाली होओ। तू ब्राह्मणों की प्रकृति के लिए वेद–माता स्वरूप, समस्त जगत् की सिद्धि के लिए षोड़शार्ण मंत्र रूप, पराविद्या मन से जानी जाय तू ऐसी माता दधिमति है। हे भगवती तू माया, परा, कमला व बाला है और नित्य नमः और ओंकार से तेरे नाम से संपुट लगाया जाता है, तेरा जप करने वालों की जय कराने को उनके कण्ठ में बैठकर, विद्वानों के गण समूह

में जगत् में प्रकाशमान रहती है। जो मनुष्य प्रातःकाल में गणपादिक देवतारूप तेरी पूजा कर, तेरा परम अजपा रूप का जप करते हैं, वे अपने शिवरूपी कमल में जिसके चारों ओर केवल दिशाओं का घेरा है (अर्थात् एकान्त में) नादरूपी अमृत का पान करते हैं और (इसीलिए) वे धन्य हैं। तेरे चरण कमलों से निकले हुए मकरन्द से भी भाँति सिंचित होते हुए, संसार के ताप से जिनके पवित्र देह मुक्त हो गये हैं, ऐसे वे तुम्हारी पूजा करने के योग्य होते हैं, जैसे ब्रह्मा आदि कई देवगण तेरे प्रताप से ही परमसुन्दर आकृति वाले हैं।

षोडशार्ण पर जो चिन्ह दिया गया है तदनुसार वह मंत्र यह हैः—

'ऊँ ह्रीं श्रीं ऐंल्कीं सौं भगवति दधिमथ्यै नमः ऊँ॥'

उक्त पूरा प्रकरण मय पद्य व अनुवाद के साथ जैसा 'दधिमति' पत्रिका के प्रथमांक में छपा है यहाँ अविकल उद्धत किया है इस प्रथम प्रकरण के बाद 'दधिमथी'—नाम की उत्पत्ति का प्रकरण देखियेः—

(प्रथम वर्ष वि. संवत् 1968 द्वितीय — अंक 'दधिमती' माघ—नवरात्र)

'ब्रह्मोवाच पुरा देवासुराः सर्वे पीयूषार्थ महोदधिम्।
ममन्थुस्ते महावीर्या अक्षमास्ते यदा भवन्।।
मयानुमोदिताः सर्वे महामायां प्रतुष्टुवुः।
प्रादुर्भूता महामाया विराट वपुषा तदा।।
आर्षत्वादकारान्त प्रयोगः समपादकः।
सहस्त्रमुख पादहस्ता सहस्दित्यसन्निभा।।
मातृभिः पूजिता देवी सिन्धुतीरेतिशोभने।।
निक्षिप्य चौषधी सर्वा दधिकृत्वैव क्षीरधिम्।
ममन्थेति महादेवी ततो रत्नानि जज्ञिरे।।
ततो देवासुरास्तुष्टा तुष्टुवु जगदाम्बिकाम्।
ततः प्रभृति लोके सा नाम्ना दधिमथी स्मृता।।

अर्थ — महापराक्रमी पुरातन समय में सब देवता और दैत्यों ने अमृत के लिए समुद्र को मथा और जब वे असमर्थ हुए। सबने मेरी ब्रह्माजी की अनुमति से महामाया की स्तुति की तब विराट रूप से (प्रकट हुई) जिसके हजारों मुख पैर व हाथ हैं, हजार सूर्य के सदृश जिसका तेज है, मातृकाओं ने जिसकी पूजा की है, अति मनोहर समुद्र के तीर पर प्रकट होकर— महामाया महादेवी ने सब औषधियों को समुद्र में डाल (कर) समुद्र को दधि की भाँति मथा (जिससे देवी का नाम दधिमथी हुआ) और फिर (उस समुद्र से) रत्न उत्पन्न हुए। फिर देवता और दैत्यों ने प्रसन्न होकर जगदम्बा की स्तुति की, उसी समय से इसका (भगवती का) नाम लोक में 'दधिमथी' हुआ।

नोटः— पूर्व में की गई स्तुति ब्रह्मा विष्णु शिव आदि द्वारा दधिमयी शक्ति के प्राकट्य के लिए थी और आगे समुद्र मंथन से अश्व—वारुणी—रमा विष जिसे महादेव भगवान ने पिया अन्त में अमृत उत्पन्न हुआ। नियम है कि कोरे निःसार जल में मंथन करने से कुछ प्राप्त नहीं होता जैसे दुग्ध और दधि, धारण शक्ति उसमें उत्पन्न करने को औषधियाँ डाल उसे गाढ़ा बनाया गया और शक्तिमती द्वारा मंथन करने पर ही अमृत निकला। निवेदन है कि आगे देवताओं द्वारा की गई स्तुति वा मान्धाता प्रकरण उल्लेखनीय है अतः क्रमशः अन्य संचिकाओं में प्रस्तुत किया जायेगा। भगवती की महिमा अपार है वह 'दधिमति' रूप में स्वात्ममय तथा 'संकटनिवारिणी—सिद्धिदा' के रूप में 'दधिमथी' नामवाली है ऐसा समझा जाता है। वह स्वयं हमारी बुद्धि को अमल कर कर्म मार्ग में हमें सामर्थ्य दे अतः हम सब उसकी शरण हैं।

महाशिवरात्री-पर्व की अपूर्वता

–राजगुरु कथाभट्ट जगदीशचन्द्र शर्मा

प्रतिवर्ष, फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी की रात्रि को, भगवान विश्वकल्याणकारी शिव की उपासना, भारत व नेपाल में सर्वत्र की जाती है। भारतीय धर्म में यद्यपि अनेक देवताओं का जयन्ती–पर्व मनाया जाता है किन्तु यह सर्वोपरि विशिष्ट है। भगवान सदाशिव का, आराध्य रूप क्या है और उनके उपासकों को, इस पर्व–महोत्सव में क्या क्या प्राप्त होता है यही निवेदन प्रस्तुत है।

अनन्तानन्तकोटि ब्रह्माण्डों के रचयिता, पालनकर्ता एवं आत्मलीन कर जगल्लीला संवरणकर्ता, देवाधिदेव महादेव का वर्चस्व, मानव बुद्धि से अनुमित नहीं किया जा सका। परम शिव की प्राप्ति, सांसारिक बन्धनों में जकड़े हुए मानव को प्राप्त नहीं हो सकती। जो अपने को कामादि (काम, क्रोध, लोभ, मोह) से मुक्त रखकर केवल अन्तर्यामी से जीवात्मा की लौ लगा लेता है, वही, अपने को भव–बन्धन से परे शिवरूप का साक्षात्कार करने में सफल होता है।

सर्वप्रथम हम यहाँ पर, उनके नाम–शब्दों का, अर्थ विवेचन करते हैं। "शिव" इस नाम में "शिवम्–अस्य–अस्तीति शिवः", परमकल्याणकारी तत्व जिसके अधीन हो वह शिव कहलाता है। दूसरा अर्थ इसी शब्द का बताते हुए कोषकार कहते हैं– **"शिवयतीतिशिवः"** जो जीव मात्र का कल्याण करने में समर्थ हैं और उसे मुक्त कराते हैं वे शिव हैं। मोक्ष शब्द का अपर अर्थ शिव ही है। इसी प्रकार **"शं सुखं भवति इति शम्भुः"**, जिसकी उपासना से आत्मा का चरम कल्याण हो और जन्मजन्मान्तर का बन्धन मुक्त होकर आत्यन्तिक श्रेय, सुख वास्तविक प्राप्त हो वह **"शम्भु"** कहलाता है। ऋग्वेद के तीसरे मण्डल के 17वें अध्याय के 5वें मंत्र में– "द्विता च सत्ता स्वधया च शम्भुः" कहा है। अग्निदेव की स्तुति में प्रयुक्त उक्त संदर्भ में कहा गया है कि इहलोक और परलोक दोनों में जिसकी सत्ता हो, मध्यम व उत्तम स्थान को जिसनें व्याप्त कर रखा हो वह कल्याण का करने वाला है। जैसे अग्नि की क्षणिक ज्योति विद्युत्, बिजली की चमक, में दिखाई पड़ती है वह मध्यम है और सूर्यरूप में जो अग्नि–पिण्ड दिखाई देता है वह उत्तम है। एक तरफ से तेज द्वारा शोषण कर दूसरे– "स्वधया" जल वर्षा से, सुख तथा कल्याण करते रहते हो अतएव दो सत्ताओं का एकीकरण करके सुख देना शम्भु शब्द का तात्पर्य निकला है जैसे उत्तम स्थान पर सूर्य।

संसार भर के प्राणी–जगत का एष्टव्य सुख व कल्याण है और उसके ईश महेश्वर शंभु हैं। उक्त द्विता से **"अग्नीषोमात्मकं जगत्"**, संसार निर्मायक पदार्थ और उनमें गति द्वारा शक्ति संचार व नियन्त्रण भी अभिहित है। ऋग्वेद (10/186/1) में **"वात आवातु भेषजं शम्भु मयोभु नो हृदे। प्रण आयूषि तारिषत्"।।** वायु की धातु वातीति सतः यह वायु है क्योंकि यह गतिशील है। क्योंकि यह वायु हमारे लिए अच्छी अच्छी गन्ध खुशबू लेकर बहे "आवातु" उत्तम–गन्धयुक्त बहे। हमारे हृदय के लिए "शंभुः मयोभुः" कल्याण सुख का देने वाला हो अर्थात् हमारे हृदय के लिए "शम्भु–कल्याणकारको भवतु। मयोभूः–सुखमस्तुः।" शंभु का अर्थ आत्म कल्याणकारक एवं "मयोभूः" का अर्थ सुखकारक हो क्योंकि शम् और मय धातु सुखवाचक हैं।

यहाँ पर यह तान्त्रिक सिद्धान्त भी अवधेय है जिसमें कि "शिवः शत्तवायुक्तः" कहा है और शाब्दिक दलील देते हुए कवि ने आगे कहा है कि जैसे बिन्दु द्वारा अक्षर की उत्पत्ति होती है ठीक इसी प्रकार "शिव" में आद्य–स्वर इकार के निकाल देने पर "शव" मात्र शब्द रहता है जिसका अर्थ है बेजान वाला शरीर। अतः भगवान शंकर के स्वरूपों में "अर्धनारीश्वर" से स्त्री पुरूष का एकांगी स्वरूप बताया है और इसी प्रकार भाल पर दहकता हुआ आग्नेय–नेत्र अग्निदेव व मस्तक पर अनवरत शीतलवाहिनी भगवती गंगाजी व चन्द्र रेखा सोम की प्रतीक है। पदार्थ व उसमें पैदा की गई गति शक्ति स्वयं के वशीभूत होने पर सुख है।

आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक तत्त्वों का ईश्वर कल्याणकारी होगा और तीनों पद्धतियों का स्वरूप प्रत्येक अपने रूप में दिखाई देगा। आध्यातमिक रूप मानव का "शिवोऽहम्" है आधिदैविक रूप ऐसा है जिसमें वह कुछ ले के न आया हो और कुछ ले के न जाने के इरादे वाला हो साथ ही स्वयं को आलप्त रखता हुआ सांसारिक समस्त पदार्थों को वशीभूत रखते हुए उनके प्रति उपेक्षित हो, अनासक्त हो। मानवता भी इसी व्यवहार का प्रतीक है इसमें सत्य–आचरण धर्म की धारणा है। जो अत्यन्तभूत हित हो वह सत्य है और इसी को धारण करने वाले ईश्वर महेश्वर हैं जहाँ भूतगण और भूतहित साथ है यह आपका दैविक स्वरूप है जिसमें आपके अनेक लीलावतारों का वैभव–वर्णन पुराणों में सर्वत्र

किया गया है। वेद ने **"नमः शंभवाय च मयोभवाय च"** कहकर रूद्राष्टाध्यायी में आपका अग्निमय सद्रूप व शान्तिसूक्त द्वारा

"सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु।।"

जिस उत्तम सारथि के वशीभूत अश्व, उसके इशारों पर, बगैर धोका उसे दिए सनातन–गतिशील–अवस्था में चलते रहते हैं। मनुष्यों की तरह की इन्द्रियों को वशीभूत करने वाला, हृदय में स्थाई रूप से बिराजमान ऐसे रथ में जिसका आधार भी गतिशील है मालिक आत्मा मनस्थ पवित्र उद्देश्य के आर्पित हो। भगवान शंकर जो हृदय में बिराजमान एकाधिकारी हैं उन्हीं को मेरा आत्म–समर्पण है। आत्मा का योग परमात्म–योग।

रात्रिनाम निरूक्त वैदिक में अनेक गिनाए हैं कहा है– **"रात्रि कस्मात् प्ररमयति भूतानि नक्तञ्चरीणि उपरमयतीतराणि ध्रुवी करोति। रातेर्वास्याद्दान कर्मणः, प्रदीपन्ते अस्यामवश्यायाः।"** रात्रि क्यों कहते हैं। यह रात्रि में विचरण करने वाले पिशाच आदि को प्रसन्न रखती है अतः रात्रि नाम हुआ। क्योंकि रमणधर्मा अतितरां पैशाची रमण क्रिया है जो कि आत्म–रमण नहीं। दूसरे अतिरमण न करके वृत्ति व्यापारादि से काम चलाते हैं उन सबको विश्राम देती है काम करना बन्द करती है और साथ ही उन्हें दूसरे दिन पुनः उसी शक्ति से काम में जुट पड़ने का सम्बल देती है। इस प्रकार से उनकी आयु बढ़ा कर स्थिर बनाती है। क्योंकि दान अर्थ के द्योतन करने वाले भरा धातु से रात्रिः शब्द बना है और त्राण अर्थ अनिर्दिष्ट है। कहते हैं प्रकृति भी अखिल वीरुधों जीवजाति के लिए अमृत वर्षा करती है।

कोई भक्त भगवान से प्रार्थना करता हुआ अपनी आँखों को सम्बोधित करके कहता है, कि ऐ नेत्रों! तब तक तुम अपलक जागते रहो क्योंकि ये आत्म कल्याणकारी रात्रि है और तुम दो को अपना एक साथी शीघ्र ही प्रातः होते ही मिल जायगा। अर्थात् त्रिनेत्र होने पर सब इन्द्रियों और विशेष में चक्षु जाति में एक वृद्धि की महत्ता मोक्ष अर्थ को बताती है–

"रात्रिः शिवा काचन सन्निधत्ते विलोचने जाग्रत अप्रमत्ते।
समानधर्मायुवयोः सकाशे सखाभविष्यत्यचिरेण कश्चिद्।।

अतः यह परम्परा से शिव से युक्त रात्रि मानी गई है और इस जयन्ती के मनाए जाते रहने का अनुमान असंभव है क्योंकि इस दिन भगवान शंकर का जन्म आदि नहीं हुआ है किन्तु किसी ऐसे जीव का उद्धार इस दिन हुआ है जो नक्षत्र और जीव रूप में आज भी स्थित है भाव् या भावना। भगवान शंकर पुराणादि सर्वत्र ग्रंथों में अजन्मा हैं। प्राकट्य जैसे क्षीरसागर में भगवान विष्णु का प्राकट्य हुआ उस अप सृष्टि के समान ही अग्नि–वायु–सोम सृष्टि में महद्रूप में आपकी शाश्वत् स्थिति मानी है।

रासेश्वर कृष्ण

—राजगुरु कथाभट्ट जगदीशचन्द्र शर्मा

भारतवर्ष के प्राचीन साहित्य, संस्कृत व हिन्दी भाषा में, श्री वृन्दावन बिहारी, राधा गोविन्द की लीला का चरित्र चित्रण, अनेक कवियों के द्वारा आत्म परितोष रूप से गाया गया है जो आज भी सहृदय हृदयों को आवर्जित करने में पूर्णतया समर्थ व व्यापक है। **'रसो वै सः'** कहकर वेद भगवान जिस अपार आनन्द को ब्रह्म परक पहुँचा देते हैं, वहाँ जाकर जगत्रस के साररूप में वह ही एकमात्र अवशिष्ट रह जाता है।

आचार्य वात्स्यायन **'धर्मार्थकामेभ्यो नमः'**, कहकर, अपना प्रथम सूत्र मंगलाचरण के रूप में उपस्थित करते हैं । कहा है कि **'अन्योन्याहनुबद्धं त्रिवर्ग सेवेत'**, इन धर्मार्थ काम में एक की सेवा करने से पार जीवन नैया नहीं लगेगी किन्तु तीनों का सहयोग जीवन के लिए परमावश्यक है। भारतीय पद्धति में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार पदार्थ माने गए हैं और शरीर में भी मन, बुद्धि व प्राण की प्रधान सत्ता है, मोक्ष—पदार्थ कर्म की परिणिति का सूचक है।

जगद्व्यवहार में **'धर्म'** पदार्थ योग्यायोग्य भावना को रास्ता दिखाता है और 'अर्थ' प्रयोजन की पूर्ति का प्रधान साधक है, प्रयोजन 'काम' है जिसके प्राप्त होने से सब प्रकार से मानसिक शांति होती है, आनन्द प्राप्ति का रहस्य कामना से पूर्ण आबद्ध है वह कामना चाहे 'स्वधर्म' भगवद्भक्ति परक होकर बने या 'अर्थ' मतलब अर्थात् काम का साधक होकर चले। 'अर्थ' के द्वारा धर्म व काम दोनों ही सेव्य हो सकते हैं अतः अर्थ सहायक तत्त्व है। काम और अर्थ में प्रयोजन, प्रयोज्यरूप में एकाकारिता है।

'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दादेव खल्विमानी भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति इति।' (तैत्तिरीय—अनुवाक्3)

ब्रह्म की परिभाषा हो नहीं सकती, **'येयं प्रेते विचिकित्सा'** कहकर अन्त में **'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः'**, जो 'अहम्' या 'ॐ' से स्वीकृति है सत्ता की वही 'सत्यम्' है । **'ब्रह्म वा इदमग्रमासीत्तदात्मानमेवावेत्। अहं ब्रह्मास्मीति।'** जब ज्ञान 'अहं ब्रह्मास्मि' का ज्ञाता हो गया तो प्राण प्रतिष्ठा शरीर में हुई। **'प्राणा वै यशोवीर्यं तत् प्राणेषु उत्क्रांतेषु शरीरं श्रवपितुमध्र यित तस्य शरीर एव मन आसीत्'।** प्राण यश और पराक्रम है, जब प्राण निकल गये तो शरीर फूलने लगा किन्तु उसका मन शरीर में ही रहा और **'सोऽकामयत भूयसा यज्ञेन भूयो यजेयेदिति।'** उसने अन्तिम साँस में कामना की कि फिर से मैं यज्ञ यजन करूँ। **'अहमेव मृत्युरस्म्यश्वमेध एका देवता मद्रूपा अश्वाग्नि साधन साध्येति सोऽपजयति पुनर्मृत्युं पुनर्मरणं सकृन्मृत्वा पुनर्मरणाय न जायत इत्यर्थः।'** अप्रव अग्नि साधन, साधन—साध्यरूप मृत्यु एक प्रभावशाली देवता है उसकी उपासना करने वाला पुनर्मृत्यु पुनर्मरण प्राप्त नहीं करता। **'ऊचुर्हन्तासुरान्यज्ञ उद्गीथेनात्ययामेति।'** देवताओं ने कहा कि हम यज्ञ में उद्गीथ के द्वारा असुरों का अतिक्रमण करें।

'ब्रह्मविदाप्नोति परम्', ब्रह्मवेत्ता परम आनन्द प्राप्त कर लेता है और इसका साधन है 'वाक्'। **'ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यो वागुदगायत्।'** देवताओं ने वाक् से कहा, तुम हमारे लिये उद्गान करो। वाक् ने बहुत अच्छा ऐसा कहकर उनके लिए उद्गान किया। **'यो वाचि भोगस्तं देवेभ्य अगायद्यत् कल्याणं वदति तदात्मने।'** जो वाणी में भोग था उसे देवताओं के लिए गान किया और जो शुभ भाषण करती थी उसे अपने लिये गाया।

'स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीय मैच्छत्। स हैतावा नास यथा स्त्रीपुमां सौ सम्परिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्वेधापातयत्ततः पतिश्र्व पत्नी चाभवतां।'

वह रममाण नहीं हुआ। क्योंकि अकेले आदमी का दिल नहीं आनन्द पाता। वह जिस प्रकार आलिंगित स्त्री पुरुष होते हैं वैसे ही परिमाण वाला हो गया। उसने इस अपने देह को दो भागों में विभक्त कर डाला। उससे पति और पत्नी हुए।

याज्ञवल्क्य ने आगे कहा कि — **'तस्मादयमाकाशः स्त्रियः पूर्यत एव ताः समभवत्ततो मनुष्या अजायन्त।'** इसीलिये यह पुरुषार्द्ध आकाश स्त्री से पूर्ण होता है। वह उस (स्त्री) से संयुक्त हुआ, उसी से मनुष्य उत्पन्न हुये हैं। **'यदिदं किन्च मिथुनमा पिपीलिकाभ्यस्तत्सर्वमसृजत।'** इस प्रकार चींटी से लेकर हाथी पर्यन्त सभी मिथुनों की सृष्टि हुई।

'प्राणो वा अंगानां रसः', 'एष एव बृहस्पतिर्वाग्वै बृहती तस्या एष पतिस्तस्मादु बृहस्पतिः।' प्राण अंगो का रस है। यह ही बृहस्पति है। वाक् ही बहती है, उसका यह पति है, इसलिए यह बृहस्पति है। **'साम वाग्वै'** वाक् ही 'सा' है और यह (प्राण) अम्,सा+अम=साम।

साम से समस्त गेय रागानुरागों की स्थिति हुई और जिस दिव्य क्रीडा में एक ही रस अनेक रसों के रूप में होकर अनन्त अनन्त रस का आस्वादन करे और आस्वाद् आस्वादक के भेद को तिरोहित करे वह ही 'रास' है।

भारत का दर्शन, आत्म–दर्शन है, अतः आत्मा के आनन्द भूत व्यापार के आधार भूत रस आत्मोन्नति के निमित्त ही हैं। आनन्दवर्धनाचार्य कहते हैं कि – 'काव्य के रसों का आस्वाद करने के लिए जिस नवीन दृष्टि की तथा वर्णित विषयों की भित्ति का विवेचन करने के लिए जिस बुद्धि की आवश्यकता है, उन दोनों का आश्रय लेकर समस्त जगत् का वर्णन करते हम थक गये। किन्तु हे समुद्र में शयन करने वाले विष्णु भगवान्, तुम्हारी भक्ति के समान सुख उसमें नहीं मिला।'

'नैव च लब्धमब्धिशयन त्वद्भक्ति तुल्यं सुखम्।' (ध्व.तृ.उ.)

'श्री गोविन्द पदाम्भोज मधुनो महद्भुतम्।
यत्पायिनो न मुन्चनति मुन्चनति यदपायिनः।'

भगवान श्री गोविन्द चरणकमल में स्थित मधु में बडा आश्चर्य है। पीने वाले उस मधु का पान करते नहीं अघाते हैं और जो विनाशी, अपायी हैं वे छोड देते हैं।

'यदि हरिस्मरणे सरसंमनो यदि विलासकलासु कुतूहलम्।
मधुर कोमल कान्त पदावलिं शृणु तदा जयदेव सरस्वतीम्।।

अगर भगवत्पादाम्बुज के स्मरण करने में मन हर्षित होता है और यदि विलासकला का ज्ञान प्राप्त करना इष्ट है तो मधुर कोमलकान्त पदों की छटा वाले, जयदेव की सरस्वती से निकला काव्य 'गीतगोविन्द' पढिए।

रासोल्लासभरेण बिभ्रमभृतामाभीखामभ्रुवाम–
भ्यर्णं परिरम्य निर्भरमुरः प्रेमांधया राधया।
साधु त्वद्वदनं सुधामयमिति व्याहृत्य गीतस्तुति–
व्याजादघरचुम्बित स्मितमनोहारी हरिः पातु वः।।'

रास पन्चाध्यायी में:–

दृष्ट्वा कुमुद्वन्तमखण्डमण्डलं रमाननाभं नवकुंकुमारुणम्।
वनं च तत्कोमलगोभिरनजितं जगौ कलं वामदृशां मनोहरम्।।'

गत्यानुरागस्मितविभ्रमोक्षितै–र्मनोरमालापविहारविभ्रमैः।
आक्षिप्रचिताः प्रमदा रमापते–स्तास्ता विचेष्टा जगृहुस्तदात्मिका।।'

श्री श्रीधर स्वामी–

'गोपीगणो तमिह कामदृशा भजन्ते, यं भक्तिभाज इह केवलभक्तिभावैः।
यं योगिनो हृदि धिया परिचिन्तयन्ति, तं केवलं कमललोचनमाश्रयेऽहम्।।'

माधव कवीन्द्र भट्टाचार्य रचित उद्धव दूत काव्य में विरहिणी ब्रजाङ्गना–

'यान्ति प्राणा मम यदि नते प्रच्छनीयः पुरोधा
देया मह्यं किसलयरुचा पाणिनैव त्वयापः।
याचे तत्र व्यवधिकृतिनः क्षालनं क्षारनीरः
कर्त्तव्यं ते मधुपुरवधूपादलाक्षारसस्य।।

'भजे व्रजैकमण्डनं समस्त पापखण्डनं
स्वभक्तचित्तरंजनं सदैव नन्दनन्दनम्।
सुपिच्छगुच्छमस्तकं सुनादवेणुहस्तकम्
अनंग रंग सागरं नमामि कृष्णनागरम्।। कृष्णतांडव स्तोत्रम्।

सान्द्रानन्द पुरन्दरादिदिविषद्वृन्दैरमन्दादरा
दानम्रैर्मुकुटेन्द्रनीलमणिभिः सन्दर्शितेन्दीवरम्।
स्वच्छन्दं मकरन्द सुन्दरगलन्मन्दाकिनी मेदुरं
श्री गोविन्द पदारविन्दमशुभस्कन्दाय वन्दामहे।।'

गीत गोविन्दात्।

राधाकरावचित पल्लववल्लरीके
राधा पदांग विलसन्मधुरस्थलीके।
राधायशोमुखरमत्तखगावलीके
राधाविहारविपिने रमतां मनो मे।।' श्रीहितहरिवंशस्य।

लीलाटोपकटाक्षनिर्भरपरिष्वंग प्रसंगाधिक–
प्रीते रीतिविभंग संगरलसद्वेणुप्रणादामृते।
राधालोचनलालितस्य ललितस्मेरे मुरारेर्मुदा
माधुर्यकरसे मुखेन्दुकमले मग्नं मदीयं मनः।।श्री लीलाशुकस्य।

स्मृतापि तरुणातपं करुणया हरन्ती नृणा–
मभंगुरतनुत्विषावलयिता शतैर्विद्युताम्।
कलिन्दगिरिनन्दिनी तटसुरद्रुमालम्बिनी
मदीयमति चुम्बिनी भवतु कापि कादम्बिनी।।

जगन्नाथपण्डितराजस्य

मृद्वीका रसिता सिता समाशिता स्फीतं च पीतं पयः,
स्वर्यातेन सुधाथद्यापि कतिधा रम्भाधर खण्डितः।
सत्यं ब्रूहि मदीयजीव भवताभूयो भवे भ्राम्यता
कृष्णेत्यक्षरयोरयं मधुरिमोद्गारः क्वचिल्लाक्षितः।।

दोर्म्यां दोर्म्यां व्रजन्तं व्रजसदनजनाह्वानतः प्रोल्लसन्तं
मन्दं मन्दं हसन्तं मधुमधुरवचो मेति मेति ब्रुवन्तम्।
गोपालीपाणितालीतरलित वलयध्वानमुग्धान्तरालं
वन्दे तं देवमिन्दीवरविमलदलश्यामलं नन्दबालम्।।

राधेयचैतन्यचरणानाम्

तटीप्रस्फुटीनीपवाटीकुटीरे वधूटीनटी दृक्पुटीपीयमानम्।
समालिप्तपाटीरवक्षस्तटीकं हरिद्राभराजत्पटीकं नमामि।।
गोविन्ददेवोऽमलमन्दिरस्थो निकामरम्याकृतिरुन्नतौजाः।
विराजिते यत्र हितानि कुर्वन् नराधिपस्यक्षितिपालजेतुः।।

सीतारामकवे–जयवंशमहाकाव्यात्

कालिन्दीकूलकेलिः करकृतकमलः केशिकंसादिकालः
कान्त्या कन्दर्पकान्तः कुटिलकंचकलः कुट्टयन्कलियाहिम्।
कुर्वन्क्रीडाकलापं कुसुमित कदलीकुञ्जकोणे कृपालुः
कृष्णः कल्याणकारी कविषु किल कृपां कीर्तनीयः करोतु।।
कालिन्दीकुचकामुकः कमलिनीकोशं करे कम्पय–
न्कान्त्या कज्जलकोमलः कुरुकुले कूरान्कटाक्षान्किरन्।
कुर्यात् काव्यकुतूहली कमलया काम्यः कलाकोविद
कृष्णारव्यः कविताकलंककुशलान् कौमोदकीकीलितान्।।

कविमल्ल श्रीहरिवल्लभ भट्टस्यं

धारणा – धर्म – धरणी
त्रिपथगा – सृष्टि (त्रिलोकी)

–राजगुरू कथाभट्ट जगदीश चन्द्र शर्मा

उत्पत्ति

'कल्पना' विश्व की जननी है। 'क्लृपी' कल्पने – कहकर पाणिनी महर्षि ने इस क्रिया को अपने ही रूप सँजोने को बन्धन मुक्त कर दिया है। स्वतन्त्र हुई कल्पना कितने रूपों को सँवारे, क्षण–क्षण उत्पन्न कर नष्ट करे यह उसकी अपनी परिधि है। इसकी कल्पित कृति, कितनी उत्कृष्ट या हीन आँकी जायगी, इस बात की उसे कतई परवाह नहीं क्योंकि यह उसकी स्वयं की प्रकृति या स्वभाव है। कृति से कर्म का बोध होने से, इसे अनुमान की परिधि तोड़कर प्रत्यक्ष होना पड़ा, जिसके साथ ही कर्त्ता का अस्तित्व, अभिमान किसी सजीव की कल्पना करनी पड़ी।

काल

पहिचान नहीं होने पर या दिखाई नहीं पडने पर, अभिज्ञा का आश्रय लेना अनिवार्य हुआ। कृति से कर्त्ता की पहचान की जाय या कर्ता से दुरूह प्रश्न है। देखा जाय तो कृति कर्त्ता के न होने पर भी स्थित रहती है और यहाँ 'इति ह आस' का प्रसंग आता है जिसमें काल के क्रम का आधिपत्य है। काल क्या है जो अपने आप का सृजन करके, अपने को कुछ ठहराता हुआ उस रूप को जिसे बनाया था नष्ट कर देता है। तीन क्षण–मात्र का यह नाटक प्रारंभ होकर समय–परिधि में संकुचित हो जाता है और दृश्य से अदर्शन (लोप) को प्राप्त होता है। इन क्रियाओं द्वारा निर्मित कर्म शब्दायमान होता हुआ अनुरणन में खो जाता है। खोई हुई वस्तु खोजने पर मिल भी सकती है और नहीं भी।

कृति

कितने ही भाई कृति को निर्जीव व कर्त्ता को सजीव मानते हैं। सत्तावाली वस्तु को 'सत्' और नष्ट हुई को 'असत्' कहते हैं। साथ ही इन दोनों में पूर्णतः भेद न कर पाने पर, 'सदसत्' एक शब्द का प्रयोग स्वीकारते हैं। स्वीकार करना या न

करना इच्छा पर है, जहाँ कर्त्ता का चिन्तन व मनन सजीव हो उठता है। क्रिया या गति के बल पर शब्द की सृष्टि होती है, जैसा आप नदी के ऊपर से गिरने वाले जल के प्रपात से अनुमान लगा सकते हैं कि वहाँ कौन किससे बोल रहा है और कौन सजीव या निर्जीव है यह समुद्र की उत्ताल तरंगों से जाना जाता है, जबकि जल जड़ है। जड़ या जल में शब्द की स्थिति क्रिया–जन्य है और क्रिया स्वयं सत् और असत् होते हुए सदसत् है क्योंकि असत् तो व्यवहार शून्य है। यहाँ कल्पना करना आवश्यक होता है कि क्या क्रिया स्वयंभू है।

धारणा

स्वयंभू का अर्थ है अपने आप होना। अपने आप से उत्पन्न होना, ठहरना या नष्ट होना अपने आप पर है अतः कर्तृव्य में समाधान कैसे किया जाय। इसलिए कल्पना या अनुमान भी सत्यपरक है। जल्पना, कल्पना से परे नहीं जो चर्चा का आधार रखती है अतः स्वयंभू है। कारण के बिना कार्य की स्थिति होना प्रतीति है, जो प्रत्यक्ष के दायरे को छूती है। इसे हम 'धारणा' या धारक का धर्म कहें तो बेजा बात नहीं। धारणा धारण की जाती है अतः अनुमित या स्वीकृत है – स्वाभाविक है और नहीं भी। स्वयंभू धारणा का धर्म भी उसी का है अतः भावों की सत्ता मानी जाती है। धारणा, काल की दिशा से बँधी है, इसलिए इसे कालजन्य या पराधीन मान लें तो क्या हर्ज है। धारणा आधारभूत है अतः इसे हम परिस्थिति विशेष, कालजन्य देश की (आधारभूत स्थिति) क्रिया भी मानते हैं। यहाँ यह भी विचारणीय है कि कल्पना और धारणा में क्या सामंजस्य है या कितना अन्तर है।

गति

यहाँ वाणी में निवर्तन सा दिखाई पडता है और वह मुडकर मुकर जाती, फिसलती सी जानी जाती है। क्रिया शक्ति दिखाकर लुप्त ही हो जाती है। पकड़ में नहीं आ पाती, इसे छल या दुराव कहें तो क्या बुराई है। गति एक ऐसी क्रिया है जिसमें 'चरैवेति' का साक्षात्कार होता है, यह गति सीधी चलती है, मुड़ती जाती है, उलट कर भी जा सकती है या नियति द्वारा पूरी तौर पर नियन्त्रित है। नियन्त्रण क्या किसी दशा–विशेष के आधीन है और यह स्वयं में यन्त्रित है या यन्ता की इच्छानुसार।

ज्ञान–अनुमान

यहाँ 'मनुते' का प्रसंग, यदि कर्त्ता की मंशाह के अनुसार माना जाय तो वह (क्रिया) फिर स्वाधीन नहीं। गमन का नाम ही तो गति है फिर इसमें क्या कोई क्रम निर्धारित है। 'गाय चलती है' 'पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है' और स्वयं को चक्रित करके आगे बढकर दिन–रात या वर्षभर में एक दायरा बनाती है। प्रातः सूर्य उदित होता है, दिनभर कालक्रमानुसार चलते रहकर सायं अस्ताचल ओढ लेता है और चन्द्र चमकने लगता है तारागण, आकाश में दिखाई देते हैं। क्या हम अपने विनोद के लिए इनको कुछ देर रोक सकते हैं। विचारणीय प्रश्न है।

वस्तुनिष्ठ धर्म

कहते हैं जो बात तर्क से अनुसंधानित नहीं की जा सकती उसको हम वस्तुनिष्ठ–धर्म कह देते हैं। वस्तुनिष्ठ धर्म, कर्तव्य या प्रकृति उसके स्वयं की है या अन्य के अधीन। कैसा गोरखधन्धा है जिसे स्पष्ट कर सकना कल्पना, अनुमान या मान से ही संभव हो सकता है। यहाँ जो धर्म का नाम आया है वह किसी अध्यात्मवादी व संप्रदाय से सम्बद्ध नहीं है बल्कि तन्तिष्ठ, पदार्थगत–स्वाभाग की स्थिति का मात्र परिचायक है, जैसे पृथ्वी में पृथ्वीत्व और गो में गोत्व। इस प्रकार के क्रियागत–धर्म में अर्थ (प्रयोजन) निहित है और वह क्यों है यह कामना या काम है। मोक्ष–लोप होने या सर्वदा उस धर्म से मुक्त होने का नाम है क्योंकि यह मुच्यते से सम्बद्ध है।

यहाँ पर हम यह पहचान करने को विवश हैं कि पदार्थ में पदार्थ गत धर्म, क्रिया के अनुसार जो अनवरत गतिशील है उसमें वृद्धि या क्षति का रूप उपस्थित करती है जैसे दूध प्रकृति है और दही, घृत, छेना आदि परिवर्तन का स्वरूप।

ॐकार सर्व सच्चिदानन्द की घन–आत्मा या परमात्मा है। इसमें से निकलने वाली गूँज यह परमात्मा के दिए शरीर का स्वास या निश्वास है। 'श्वसिति, प्रणिति' प्राण से परिपुष्ट है। प्राण शरीर में रहने वाली जीवन की प्रक्रिया है। इसमें आधिभौतिक, आधिदैविक व आध्यात्मिक तीनों संगठनों का रूप समाया है।

अब हम इसके आधिभौतिक रूप का यहाँ विचार करें तो आप इसकी (ॐ) आकृति को देखिए। यदि हम इस आकृति के चार विभाग करें तो हमें स्पष्ट प्रतीत होता है कि विश्व प्रक्रिया समस्त रूप में इसमें व्याप्त है, जैसे–

'एक विभाग', यह **विश्व–खगोल** की आकृति प्रकट करता है। जैसे अंड या

कपाल का आधा ऊपरी हिस्सा, आकाश सूर्य, चन्द्र, तारागण, की अनन्तता को निर्देश करता है। यह दूसरा हिस्सा है जिसमें **पृथ्वी का धरातल** समाया हुआ है।

योग–धर्म

इन दोनों को जोड़ने का नाम 'योग' कहलाता है। क्योंकि 'युज्यते अनेन' इस विग्रह से दो घरों को जोड़ने का काम यह करता है। जो क्रिया को करने वाला है वह है 'धर्म', इसे हम 'योग–धर्म' कहते हैं। धर्म में देश व काल क्रिया का सर्वत्र समावेश व योग करना प्राकृतिक है। यहाँ ये दोनों आकाश व पृथ्वी का योग करते हैं अतः देश काल सम्बन्धी धर्म आता है।

इस जोड़ने वाले धर्म का काम है वह इन दो आकाश और पृथ्वी को एक छोर से मजबूती से जोड़ दे। इस जोड़ने का स्वरूप क्या होगा – जैसे प्रथम कल्पना तो यह है कि इन दोनों का स्वरूप गोल है – पृथ्वी का अण्ड गोल है किन्तु आकाश से जुड़े रहने के कारण आकाश भी गोल ही प्रतीत होता है। पुराने ऋषियों ने इनकी 'कपाल–संज्ञा' अलग–अलग से की है – अर्ध कपाल आकाश, जिसमें सूर्य चन्द्र तारागण आदि नीचे के अधः कपाल पृथ्वी पर छाए हुए हैं। दोनों मिलने पर ही ब्रह्माण्ड कहा जाता है। 'वृंहयति आत्मानं इति ब्रह्म', 'पृथुलं करोति इति पृथ्वी' बात या क्रिया दोनों एक सी हैं अतः इन दोनों को 'अनादि' कहा है–'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धयनादीवुभावपि'।

प्राण

पुरुष, इस देहरूपी शय्या में व्याप्त रहकर शयन करता है। गहरी नींद में सोना ऐसा होता है कि जिसकी वेदान्त व योग–आदि में व्याख्या है जिसके लिए लोक में कहा गया है कि 'सुखमह–मस्वाप्सं तंत्र किंचिदवेदिषम्'। मैं सुखपूर्वक ऐसा सोया कि मुझे कुछ भी मालुम नहीं क्या जगत् में उस समय घटना घटी। सोने के समय में आदमी में, चेतन (आत्मा) मौजूद रहता है, श्वास और नाडियाँ चलती रहती है। इसके विपरीत 'मृत्यु' के समय श्वास प्रश्वास गायब सदा–सदा के लिए हो जाया करता है और जिस्म में होने वाली सभी हरकतें सदा के लिए शरीर छोड़ जाती हैं और देह में रहने वाला पुरुष (आत्मा) गायब हो जाता है, यही अन्तर है।

यह आत्मा या जीव उड़ता फिरता पंछी है जो रात को अपने नीड़ में विश्राम लेने आया करता था आज वहीं मरा पड़ा है। अतः इसे ऐसे गायब होता देखा गया जैसे अनुस्वार का हलका सा उच्चारण। आपके नाम से किसी ने आकर आवाज लगाई आपने सम्मुख आकर कहा मैं हूँ। यहाँ 'हूँ' पर रहने वाला अर्धचन्द्राकार अनुस्वार जीवित प्राणी की गूँज है तब तक यह देह कायम रहती है अतः स्वर में प्रधान 'नाद', गायब हो जाता है अति सूक्ष्मरूप से।

प्रकृति, चेतना और धारणा

यह नाद ही ब्रह्म है या जीव की सूक्ष्म प्रगति आती है और फिर 'काल' की अवधि के साथ चलकर सदा के लिए गायब भी हो जाती है। अतः यह ही नाद जीव व ब्रह्म का द्योतक है। जिसे अर्धचन्द्राकार 'ऊँ' पर देखा भी जा सकता है और नहीं भी इसको हम जीव, ब्रह्म, पुरुष की संज्ञा देकर ब्रह्मलोक में चले जाने वाला मानते हैं। संस्कृत भाषा में 'ऊँ' का अर्थ 'आम्' भी किया गया है जिसका अर्थ है 'मैं जीवित हूँ' या 'उपस्थित हूँ' आत्म–स्वीकृति है।

आत्म–स्वीकृति, चेतन जीव की, विद्यमानता की द्योतक है। अगर हम यहाँ यह कहें कि जैसे पंचमहाभूत निर्मित देह, सद्यजात शिशु में उसके प्रथम – सदन से अवबुद्ध होती है और माता व परिजन उसके 'रूदन' से जीवित हो जाने से आश्वस्त होते हैं। यहाँ अगर यह भी ध्यान में रखा जाय कि प्रकृति की रंगबिरंगी छटा, नदी व समुद्र के जलों की किलोलें (लहरें), पशु–पक्षियों का जीवन, वर्षा का बरसना और उससे होने वाले जन्तुओं का तत्काल उत्पन्न होना व क्षणिक खेलकूद आदि को जीवन देने में अग्रसर, अगर ब्रह्म नहीं, तो फिर कौन है। इस विश्व को चेतन करने वाले ब्रह्म के अस्तित्व को हम आस्तिक लोग 'धारणा' नाम से 'उसकी–धारणा' कहें तो क्या बुराई है। अथवा निरीश्वरवादी लोग किसी ऐसी शक्ति की अलग से कल्पना करके इसका समाधान खोज लेते हैं वह भी ठीक है। मानवी धारणा के सम्बन्ध में हम अलग से कल्पना करेंगे यहाँ केवल प्रकृति–मात्र की 'धारणा' पर विचार है।

धारणा – क्या करती है तटस्थ रहकर होने वाली सभी सांसारिक प्रवृत्तियों (हरकतों) को (Activities of Natural Phenomena) प्रवर्तन का आदेश देती है और इन सब प्रवृत्तियों को कार्यरूप में परिणत करने वाला क्रिया रूप में 'धर्म' नाम का पदार्थ है क्योंकि – 'धारणाद् धर्म इत्याहुः', 'धारणायाः धारणात्' ईश्वर आदेश धारणा के अनुकूल काम करने का काम, धर्म का है। धर्म (काल–धर्म)

प्रतिक्षण उस वृत्ति को निभाता रहता है, धारण कर लेता है उसको अनेकानेक रूपों में। यह काम तब तक ही चलता है जब तक समय प्रेरित उस पदार्थ का 'त्रिकालाबाध्य' अस्तित्व कायम रहता है। यद्यपि यहाँ यह अवधान रखना है कि स्वरूप पदार्थ को देने वाली 'धरणी' ही है। धरणी स्वरूप देती है 'धारणा' के आदेशानुसार और 'धर्म' क्रिया उसको बढ़ाती घटाती रहती है।

यहाँ यों समझना चाहिए कि – 'अपांशर' की तरह आप्यायन करने वाला 'प्राण' (धारणा) धरणी रूप से किसी भी पदार्थ को प्राकृत रूप में ला उपस्थित कर देता है वह धरणी ही है। 'धार्यते' के प्रसंग में मूर्तरूप का यह आवाहन है और धर्म उसे प्रगतिशील बना देता है। यद्यपि गुरुजन ऋषि–महर्षियों का उपदेश इस प्रक्रिया के विभिन्न प्रकारों का निर्देश करता है और सूक्ष्म खोज के लिए धीरे–धीरे उन पर अनुशीलन किया जा सकता है, जो बुद्धि को विशद्–अध्ययनशील बनाने का प्रकार है। किन्तु यहाँ पर हमने मोटे रूप में तीन तत्त्व लिए हैं। एक तत्त्व प्रेरणा देता है वह बुद्धि है, प्रेरणा है किसी अदृश्य शक्ति की और कुम्हार मिट्टी से मनचाही वस्तु बना लेता है यह काम है धरणी का, और वस्तु कब तक काम करे, यह 'धर्म' की क्रिया है। इस क्रिया से आदमी, पशु, पक्षी, कीट–पतंग वृक्ष–वीरुध, जल–जन्तु आदि में परम्परा की धारणानुसार जन्म–मृत्यु, प्रादुर्भाव व विनाश में परिणत होकर उसका विकासकर्म नाशपर्यन्त चलाना 'धर्म' का क्षेत्र है।

श्रीमद्भगवद्गीता में 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' साथ–साथ कहा है और संसार के जितने भी कर्म हैं वे सब उस पदार्थ के धर्मानुसार हैं। जैसे खेती करने के योग्य भूमि या अवकाश का नाम क्षेत्र है। वहाँ रहने वाले हल चलाकर जमीन को जोतें सीचें अन्न बोऐं और बढकर पक जाने के बाद काट लें यह कृषि–धर्म है और साथ ही उसे बेचकर अपना व अपने कुटुम्ब का पालन–पोषण करे। यह कर्तव्य क्रिया 'धर्मक्षेत्र' में हुई जिसका अधिष्ठाता धर्म क्रिया कारक है अतः इसका दूसरा नाम कर्म भी है। जैसे 'पाकः' कहने पर उसके अन्तर में होने वाली सभी क्रियाऐं होकर 'सिद्धः–पाकः' का अर्थ कर्म के फल परक होता है। वैसे ही अगर यहाँ 'क्षेत्रे–कुरु' खेत में काम करो, यह कर्मपरक फल सिद्धि को बताता है। यद्यपि युद्ध–स्थल 'कुरुक्षेत्र' स्थान को बताता है किन्तु ऊहापोह से युद्ध भी धर्म या कर्म है उसके उपयोगी स्थल का निर्वचन यह शब्द कर सकता है।

विश्व के आकार का एक गोल चित्र यहाँ हमने उल्लिखित किया है जिसे हम स्पष्ट कर रहे हैं–

धारणा (अलौकिक)
(अमूर्त, मन्त्रमय, व्याप्त)

↓

धर्म (लौकिक)
धारणा के अनुसार क्रिया होते रहना–
जो क्रिया कर्म भी कही जा सकती है।

↓

धरणी (लोक)
पदार्थ–अनन्त रूपों की सर्जक,
क्रिया को मूर्तरूप देने वाली।

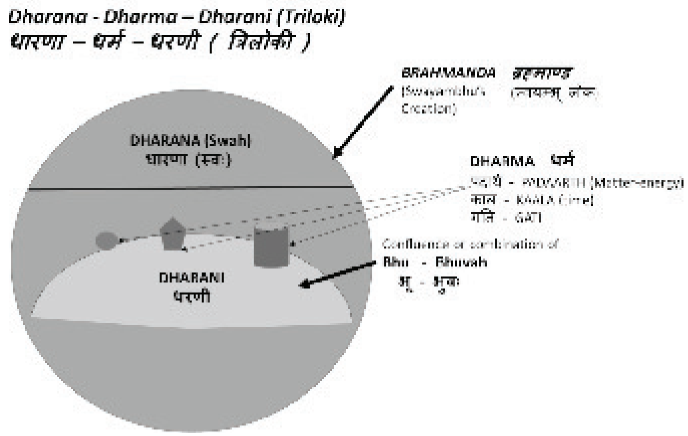

चित्र 1

त्रिलोकी का स्वरूप

'भू' (धरणी), 'भुवः' (आकाशीय धरातल पर धर्म या क्रियाशील पदार्थ, जिनमें धरणी का अस्तित्व है। 'स्वः' – आत्मानुमान 'धारणा', जिसका कि अपरिमेय रूप है। काल धर्मानुसार तदनुरूप क्रिया का प्रेरणादायक सूत्र, जो पकड़ में नहीं आता, दिखाई नहीं देता, अनुमान, प्रत्यक्ष व प्रमाण से बाहिर है कि अतः 'स्वः', या धारणा कभी न प्रत्यक्ष होने वाली, अगोचर वस्तु है। इसी को 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः' के सिद्धान्तानुसार आत्मा, परमात्मा या ब्रह्म का आलोक माना जाता है।

इस प्रकार प्रत्यक्षी भूत पदार्थ 'धरणी' है जिसका स्थूल अस्तित्व सम्मुख है। यह गच्छतीति गोरूपा है क्योंकि इसका अपना 'धर्म' 'चरेवेति' है जो सतत् क्रियाशील है अतः धर्म का अपना अस्तित्व यहाँ प्रत्यक्ष है तथा पदार्थों में तदनुरूप में अनुश्लिष्ट है। यह अलग से मूर्तरूप में नहीं दिखाई पडता पृथ्वी धर्म के साथ है। जैसे गाय के बछड़ा उत्पन्न हुआ, वह दूध पियेगा, खेलेगा, बडे होने पर चारा खाकर खेती करेगा, हल में जुतेगा आदि–आदि। कितने काल तक इसकी अवधि का नियमन काल–धर्म करेगा, जो स्वयं चक्र रूप में है और हम इसे 'सुदर्शन चक्र, धर्मचक्र, अशोक–चक्र' आदि कह देते हैं। क्योंकि पदार्थ की शक्ल में परिवर्तन होता दिखता है जैसे जन्म स्थिति, विनाश क्रियाऐं।

परिवर्तन

मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार एक अनुमान यह भी लगाया है कि मोटे तौर पर आकाश व धरणी दो तत्त्व प्रधान है और आकाश में सूर्य–चन्द्र तारागण, मेघ, नीहारिकाऐं अपने स्थान परिवर्तन करती देखी गई है। आकाश में उषा व सन्ध्या भी धर्म द्वारा नियमित हैं और धरणी व आकाश संश्लिष्ट है, अलग से, पूर्ण पृथक् नहीं किए जा सकते। जब चन्द्र–धरातल पर पृथ्वी है और 'मार्तण्ड' में भी पृथ्वी का सा मूर्तरूप व ऊर्जा है। गरमी देता है, पिघलाता है या बल का यह संचार करता रहता है। अतः पदार्थों का स्पष्ट अस्तित्व इसमें है। चक्र जो मध्याकाश में अवस्थित है सूर्य चन्द्र तारा के रूप में वह पूर्ण क्रियाशील है। अतः अपने चक्र के ऊपर के तीखे दाँतों से धारणा में निहित आज्ञानुसार आत्मा या जीव को लेकर आकाश व पृथ्वी में अपने नीचे धारणा में दाँते गडाकर ऊपर नीचे फिराता रहता है क्योंकि 'चक्रिया–गति' से काल धर्मानुसार इनमें विकास व विनाश होता रहता है। काल–चक्र होने से काल, गति बताता है और अदृश्य होने के कारण चक्र का रंग लोहे जैसा काला है जिसका कि पता न चल सकता है। यह चक्र क्रियाशील है और इसी से धरातल व आकाश, निर्बाध–गति से चलते हैं।

अतः 'ॐ' में जो दो वस्तुऐं आकाश और पृथ्वी दिखाई देती हैं, धर्म इन दोनों को गतिशील होने से, एक छोर पर जोड़ देता है और परिणाम में पुच्छ में गोल रूप बताता है। आकाश व पृथ्वी दोनों गोल अण्डाकार बनाकर ब्रह्माण्ड की सृष्टि करते हैं। सजीव बनाने वाली अर्मूत धारणा, जी चाहे तब संपर्क करके अलग हो जाती है, जो निर्लेप व निराकार है। इसको अर्धचन्द्राकार असंयुक्त रूप दिया गया है।

यहाँ मैं अपना दृष्टिकोण, तीन प्रमुख मुद्दों पर उस प्रमाण के साथ, जो परम्परित हैं उपस्थित करता हूँ। सृष्टि के बनने व बिगड़ने के हालात जो बताते हैं कि 'भारतीय–शास्त्र–समुद्र' से पूर्णतया अनुशीलन के बाद की अभिव्यक्ति के 'स्वः' स्वाधिकार में प्राणी–मात्र की अलग विधाओं में है, यह बताता है। उदाहरण के तौर पर एक सर्प–सर्पिणी हैं, जो 'सृपि गतौ' के अनुसार तेज से तेज गति में धरणी के ऊपर कुटिल गति से चलते हैं। इनको प्रकृति ने वनस्पति के उद्भव के साथ वनस्पति व धरणी का आश्रय दिया और कुल परम्परा से नाना रूप बढते बनते गये। प्रकृति का स्वरूप या क्रिया व उसका फल अगम्य है। यह सामने एक दृश्य उपस्थित करती है या अनवरत करती ही रहती है।

धरणी में गति

यह गति, पृथ्वी 'धरणी' में स्थित है क्योंकि जल, थल, अग्नि रूपत्रयी में सदा सर्वदा सत् विद्यमान है। वही जन्म, अकस्मात् ऊपर से किसी शक्ल में भी दे देता है 'काल–धर्म' क्रिया के भीतर किन्तु उस जीवन का निर्वाह या पद्धति सबकी अलग धारणा के अनुसार भेद वाली है। गाय का बछड़ा परंपरानुसार कुछ महीनों बाद ही गाय के साथ जंगल में भी जाता है दूसरे समजातियों के समान आचरण करने लगता है यह उसकी स्वतन्त्र धारणा है। पशु, पक्षी, मनुष्य, जानवर जन्तु आदि अपना भूमि पर उत्पन्न प्रगट होने के साथ ढर्रा प्राकृतिक चलता है, बढता है, घटकर नष्ट होता है, नए उत्पादन को अवसर देने के लिए इसलिए समुदाय या उनकी जाति (समूह) की धारणा है जो पथ प्रदर्शिका है। जन्म या शरीर धरणी है जो जल (सोम) से है और जैसे अरणी काष्ठ या पत्थर की रगड की चमक से

सूक्ष्मरूप में उत्पन्न अग्नि, तत्काल ही बढ जाती है। जलाना, विनाश का सूचक भी है और अन्न पाककर्ता पोषक भी। पार्थिव अग्नि, विद्युत आकाशीय विद्युत, बिजली पावर से, जल प्रपात से, उत्पन्न होकर स्पष्ट दिखता है और जब चाहो, यन्त्रित होने या वशीभूत होने पर पाक = पकना कहा जाता है जिनमें अधिकांश भौतिक पदार्थ है क्योंकि आग बेकाबू लगने पर अन्न व धनहानि, वनस्पति–विनाश होता है। जल जीवन दाता सोम है और प्रबल प्रवाह में यह हजारों शहरों व बस्तियों का विनाश करने वाला काल–समुद्र भी। जब इसके शरीर की व गति का स्पष्ट–क्रमण आप देखो तो यहाँ स्पष्ट संसार के घडियाल का मिनिट सैकन्ड की सूक्ष्मता का, प्रवेग का, अनवरत (कभी न ठहरने वाला) रूप उपस्थित करता है अतः यह आधार–स्थल नहीं, यहाँ स्थिरता का आभास भी नहीं।

अतः पृथ्वी में जल व जड का समावेश है और अग्नि की उत्पत्ति भी वाड़वानल (जल की गतिरूपा अग्नि–विद्युत)। पार्थिव–द्रव्य काष्ठ रस्सी आदि पदार्थ, जो अग्निके सर्जक हैं पैट्रोल जल थल से निकलने वाली गैसें आदि के द्वारा होती देखी गई हैं। यहाँ यह भेद करना है कि ऊर्जा आकाश व आकाश के नक्षत्र सूर्यचन्द्र तारागण में भी अवस्थित हैं, जो आकाशीय ऊर्जा–सूर्य आदि की वह आकाशीय–धारणा या प्रकृति–धर्म, कालधर्म से प्रेरित हैं ऐसा माना जाना चाहिए।

प्रमुख, धृ – धारणा करने वाली मूर्तरूपा पृथ्वी धरणी है और गति मुख्यधर्मा होने के कारण कालधर्म से आबद्ध है। जीव जन्म व मरण चक्र, स्व, स्व. की धारणा में है।

जन्म, जाति, मृत्यु आदि पृथ्वी धर्म प्रत्यक्ष हैं किन्तु खगोल के चक्र भी काल–धर्म से अनुस्यूत हैं किन्तु धरणी–जल, थल, जीव–जाति से संपृक्त या सर्वथा असंपृक्त जिनका जानने का विज्ञान, साधारण लेखक के ज्ञान से बाहिर व अननुमेय है।

मुख्य मूर्तरूप परिवर्तनशीला पृथ्वी अपने तन से किसी पदार्थ को स्वरूप प्रदान करती है। स्वरूप प्राप्ति के साथ–साथ विकास का क्रम (धर्म) होता रहता है, यह क्रम तत्पदार्थजन्य क्रिया है। यह क्रिया जो विकास व विनाश की करनेवाली है वह तज्जन्य प्रकृति के अनुकूल स्वतः अपना काम करती जाती है क्योंकि 'धारणाद् – धर्मः' कहा गया है। 'धारणाद्' का अर्थ गहराई से परखें तो प्रकृति ने जो स्वरूप गर्भवास के समय जिस जन्तु को जिस जाति में पैदा होने का अवसर दिया है वह उसी प्रकार बढतर हुआ, खाता पीता हुआ, अपना कुटुम्ब बनाकर, अदृश्य हो जाता है जिसे मौत का विनाश कह देते हैं।

जैसे – शेर, गीदड़, गाय, बकरी, चिउँटी, हाथी, मोर, कबूतर, चिड़ी, कागला आदि पशु, पक्षी, रेंगनेवाले छोटे जीव व सर्वोत्तम मनुष्य आदि अपने जीवन के रहन–सहन की धारणा लेकर अपने पेट–पालन के कर्म करते हुए बढते हैं। गोमाता को प्रातः उठकर दूध रक्षक को देना, दिनभर चरने जाना, प्रजनन करना, सब–कुछ अपनी प्रजाति की (देह की) धारणानुसार धर्म के मार्ग, जो सहज–धर्म (Natural Phenomena) में गुजरते हुए करना पडता है। अतः सहज–धर्म के अर्थ में ही 'धर्म' का 'धारण' करना अर्थ ठीक बैठता है यह वास्तविक सत्य है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना है कि जीव की रूपावस्था जो शक्ल जन्म होने पर प्रत्यक्ष में आती है वह है 'धरणी' का काम जिसमें रस रूप में जल व कान्ति रूप से अग्नि प्रतिष्ठित रहती है। 'धारणा' उस जीव को जीवन जीने की दिशा का अवबोध कराती है और 'धर्म' उसके चलने फिरने का प्रबन्ध, सभी जीवनाधार क्रियाओं के साथ चलता हुआ– जन्म देने, बढ़नें व बढने की चरम सीमा के बाद क्षीण होने, व अन्त में मृत्यु होने पर उसका व्यक्तित्व नाश कर देता है। तूफान, जलप्लावन, युद्ध, आकस्मिक नाश 'ऐक्सीडेन्ट' आदि कालधर्म बहुविनाश कर देता है जिसमें 'एटम–बम' द्वारा सर्व विनाश होता है।

अणुओं का संयोग जीवन दाता है एवं विखंडन विनाश करता है जो 'कालधर्म' की मजबूत कडी है जिससे या तो परमात्मा बचाए या समाज कुछ करे। एकमात्र जीव को प्रतिस्पर्धी मानकर, उसका विनाश करने वाला प्रबल शत्रु, जीवजाति की विनाशलीला कर बैठे यह समय व उसकी धारणा यानें 'धर्म' की क्रिया है। वैसे हम यहाँ केवल भौतिक या प्राकृतिक धर्म की चर्चा कर रहे हैं, जो जीव जाति की उत्पत्ति से मृत्युपर्यन्त चलाता रहता है। अध्यात्म–दर्शन का दिव्य प्रसंग **'अथातो धर्मजिज्ञासा'** वेदव्यासजी का विवेचन हम मनुष्य–धर्म के प्रसंग में करेंगे। यहाँ केवल जीव की प्रकृति–स्थिति का संदर्शन है।

धरणी

अब हम उक्त प्रसंग में जगत्–जंगम की लीला का प्रदर्शन देख रहे हैं। 'भवति

इति भूः' से विवरण प्राप्त होता है कि अनन्त वर्षों से जो होती ही जा रही है। जिसकी स्थिरता, रद्दोबदल, घटा बढी या परिवर्तन होते ही चले आ रहे हैं जिनका विवरण चन्द दिनों का मेहमान मनुष्य, अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार देखता, सोचता, अनुमान लगाता, जा रहा है।

विचारिये कि समस्त भूमण्डल समुद्रादि सहित विस्तृत हो तो आप कैसे व्यवहार करेंगे। व्यवहार के लिए नापजोख सीमा की आवश्यकता है क्योंकि असीम को ससीम कर सकना बडा ही दुःह है। विभाजन के बिना व्यवहार–शून्यता का प्रसंग है। अतः प्रथम ही प्रथम चार दिशाओं – पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण का आकलन किया गया और 4 ही दिक्–कोण निश्चित किए गए जिनका नाम आग्नेय, वायव्य, नैऋत्य और ईशान। महाभारत में सतयुग में क्या था। इसके जवाब में जरासा खाका खींचते हुए कहा गया है कि–

"न राज्यं नैव राजासीद् न दण्डो न च दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजास्सर्वे रक्षन्ति स्म परस्परम्।।"

सीमा के बाँधने पर ही राज्य कायम होता है जब असीम ही सबका आश्रय था तो शासक व शासन की आवश्यकता ही नहीं थी। स्वच्छन्द स्वतन्त्र प्राणी जहाँ–तहाँ से वस्तुऐं उपलब्ध करके खाते पीते थे, जहाँ चाहते रहते थे और अपराध का या किसी की स्वतन्त्रता पर कभी आघात का काम नहीं किया जा सकता था। लोग परस्पर में ऐसा वातावरण बनाये हुए थे कि आवश्यकतानुसार प्रेम से एक दूसरे को वस्तु विनिमय करते थे और आपत्ति आ पड़ने पर एक दूसरे की आवश्यक मदद करते थे। कैसा स्व–राज्य था या सुराज था। क्या आज कहीं ऐसा निदर्शन दिखाई देता है।

भूमि, शब्द से मिति या प्रमाण, नाप का अंदाजा, आरम्भ हुआ और 'भू' की ही संज्ञा हुई जिसमें देशों में सीमा कायम होती चली गई। आज विश्व भूखण्डों में बँट गया है जहाँ – देश, प्रान्त, शहर व ग्रामों की परम्परा में अलग भेद बताने वाली सीमाऐं हैं और उनके वैभवों को देखकर छीना–छीनी जारी है। युद्ध का आलंबन, सिर्फ बंटवारा की हुई भूमि पर है जहाँ परमाणुओं तक में लडाई जारी है मानव की तो कथा ही क्या उस प्रदेश के जीव जाति को समाप्त कर नेस्तनाबूद करने के प्रयत्न है।

राष्ट्र और राज्य में कोई फर्क नहीं है। संपूर्ण धरातल में राज्य नाम से जो टुकडे हुए हैं उनको पाकर भी संतोष नहीं है। यहाँ राष्ट्र–दर्शन के प्रसंग में 'धरणी' एक रूपा का ही प्रसंग है। किसी भी देश की पृथ्वी, धरणी–धरातल से अलग नहीं और तत्व रूप में एकांगी है। धारणा ने ही तो विभाजन किया। ईश्वर ने तो गुप्त धारणा द्वारा जो होने योग्य था उसे भेज दिया और होने से पहिले कियत्–काल उसे गुप्त व प्रच्छन्न रखा। कब वृक्ष में कौंपलें फूटीं, पत्तियाँ खिलीं फूल आए व फल हुए, केवल नतीजा मात्र सामने दिखाई पडता है।

ईश्वर की धारणा, धरणी को उत्पन्न करके उससे सम्बन्धित पदार्थ की गति (धर्म) युक्त रखना है। यही ब्रह्माण्ड लीला है।

जयपुर के आदर्श की व्याख्या
''यतो धर्मस्ततोजयः।''

—राजगुरू कथाभट्ट जगदीश चन्द्र शर्मा

महाराजाधिराज राजराजेन्द्र स्वर्गीय, पुण्यश्लोक, महाराजा जयसिंह ने, जो जो सपने सँजोकर, एक विशाल नगर की अद्‌भुत् रूपरेखा बनाई, उस समय कल्पना भी नहीं होगी कि 250 वर्ष बीतने के बाद जयपुर का रूपरंग क्या होगा। उचित समय बीज लगा देने पर, जैसे वृक्ष, कोंपल से फूटकर बढ़ता चला जाता है और कालान्तर में उसके डाले निकलते रहते हैं, उसी तरह आज का जयपुर, अपनी नवीन शाखाओं में, परिवर्धित होता जा रहा है।

पुरातन के साथ अधुना को जोड़ देने पर, हम उसे सनातन नाम देते आए हैं क्योंकि जो सदातन, एक जैसा ही चला आ रहा है वही परम्परा सूचक, सनातन है – अर्थ हुआ कि सदा है तन **("तनु विस्तारे")** विस्तृति जिसकी। विस्तार या विकास, अपने आयामों को बढ़ाया करता है किन्तु भविष्य में कितनी वृद्धि होगी, इसका पूर्वानुमान करना प्रायः बुद्धिगम्य नहीं । विकास का प्रथम क्षण, अति महत्वपूर्ण होता है यदि वह सीमा में ही परिवर्द्धित होता चला जाये तो। मकबरा, मंदिर या युद्ध–स्मारक, एक ही दफा में पूर्ण बना दिए जाते हैं और पिरामिड, ताजमहल या अजन्ता की गुफाऐं, इसी प्रकार से बनकर आज तक वैसी की वैसी खड़ी दिखाई दे रही हैं। निर्माण कर्ता की विशेषता वहाँ है जहाँ कल्पना अपना विस्तार समय समय पर करती ही चली जाए, जिसे हमने भविष्य का पूर्वानुमान नाम दिया है। अतः अबाध रूप से निरन्तर विकास करती हुई चलने वाली गति का नाम ही सनातनता है।

सनातन चलती रहने वाली वस्तु क्या जड़ रूप में है अथवा जीवन्त रूप में? यह प्रश्न बहुत ही अगम्य है किन्तु इसके समझने के लिए हमें **"शब्दः प्रमाणम्"** शब्द–शास्त्र को, प्रमाण मानना पड़ता है । शब्द, सदा से बोली जाने वाली वस्तु है। सभी विद्वान, सदा से प्रायः एक सरणि जो अनन्तकाल से चली आ रही है – में, पहिले भूत–कालिक सरणि की ओर दृष्टिपात करते चले आये हैं। भूतकाल वर्तमान को अवसर देता रहता है, चाहे वो कल का हो या वर्षों का। कल हमने क्या किया था, भोजन किया था, बाजार गए थे, इतना सोच चुके थे, इतना लिख चुके थे – आदि। आज हमें कल के छोड़े अधूरे काम को पूरा करना है। कल जिस मकान की नींव लगाई थी उसे निरन्तर बढ़ाते रहना है अतः कल का आज से पूरा गठबन्धन है। अब, हमारी समस्याऐं सनातनी होने से सामयिकी या असामयिकी के भेद से, परे हैं।

यहाँ एक प्रश्न बाकी बचता है? जड़ स्थायी है या चेतन? अगर हम वेदान्तीय परिभाषा में जड़ को नाशवान् मानकर चेतन को स्थायी मान लें तो भी स्वरूप का विनाश तो दोनों की सामान्य परिस्थिति में होगा ही। जैसे 250 वर्ष पहिले बनाये गए मकान, निरन्तर जीर्णोद्धार के बिना आज खँडहर हो गये और कल गिर भी जाऐंगे। इसी तरह महाराज जयसिंह ने जो जयपुर की नींव लगाकर या उसे कुछ बनाया वे आज हमारे बीच नहीं हैं – ये प्रत्यक्ष चेतन के उस स्वरूप के विनाश का उदाहरण है। जब आदमी निर्मापक, स्थायी, नहीं और उस के द्वारा निर्मित वास्तुकला भी, क्षीण और नष्ट होती दिख रही है, तो किसे हम अविनाशी मानें ।

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में कहा है **"अविनाशी तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्। विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुर्महसि।"** अविनाशी तो परमेश्वर है जिसने यह सब विश्व बनाया है। इस अव्यय–ब्रह्म का विनाश करने में, संसार की कोई भी विद्या समर्थ या सशक्त नहीं। आगे कहा है कि **"अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः"**, जिस देह को धारण कर आत्मा अवतरित हुआ है वह देह तो नाशवान है किन्तु शरीर के भीतर रहने वाला जीवात्मा अमर है, वह शरीर रूपी वस्त्र को भले ही बदल ले किन्तु **"ईश्वर अंश जीव अविनाशी"** की तुलसीदास जी की उक्ति के अनुसार कभी नष्ट नहीं होता और वह कभी भी नष्ट न होने वाले परमात्मा की एक कला है। अब पूर्णतया यह स्पष्ट हो गया कि आत्मा पुनर्जन्म लेने पर भी वही है और अविनाशी सनातन है, यह बात चेतन आत्मा के लिए स्पष्ट बतायी गयी है।

इससे यह निष्कर्ष सामने आया कि नाशवान पदार्थ जड़ वस्तु है और महल, धन, दौलत, सभी कुछ नष्ट हो जाता है। यहाँ अगर सूक्ष्मता से या गहराई से सोचें तो पता पड़ता है कि पाँच भौतिक शरीर के साथ जीवात्मा अपना सम्बन्ध तोड़ लेता है और शरीर रूपी मढैया गिर कर चकनाचूर हो जाती है। यहाँ तक जीव की सनातनता प्रतिष्ठित है और पदार्थों का विनाश अवश्यंभावी।

जरा विचारिए कि कुम्हार ने कुछ बरतन मिट्टी से गढ कर बनाए और उनकी आयु, चन्द दिनों की रही, वे टूट–टाटकर मिट्टी में मिल गए, जिनकी शक्ल सूरत का अस्तित्व नहीं रहा। किन्तु आखिर वह मिट्टी तो मौजूद है जिससे दुबारा भी कुम्हार वैसे ही बरतन गढ़ सकता है। मिट्टी का अस्तित्व, क्या निरन्तर, नव–निर्माण में सहायक नहीं। प्रमाण देखिए कि उसी भगवद्गीता में वही भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि– **"प्रकृतिं पुरूषं चैव विध्यनादीवुभावपि।"** प्रकृति कर्त्री और पुरूष जीवात्मा, दोनों ही अनादि काल से चले आ रहे हैं। माना कि मकान आदि विनाशशील वस्तु नष्ट हो जाती है किन्तु इसके बनाने की साधनभूत मृत्तिका का अस्तित्व तो फिर भी बाकी बचा रहता है, जैसे जीवात्मा के शरीर के विनाश हो जाने के बाद भी उसकी अमर–स्थिति।

अतः हम तो प्रकृति (पंचमहाभूत) और परमात्मा के अंश (जीवात्मा), सदा सर्वकाल में रहता है, दोनों को सनातन गतिशील मानकर इन में सत्वावधान से व्यवहार में सदातन का मिलान करते हैं । इस तरह व्यवहार शब्द, "धर्म" का वाचक होता है। इस सदा से चले आते रहने वाले "सनातन–धर्म" को मानव–धर्म के नाम से जाना जाता है और उक्त अविनाशी प्रकृति–पुरूष का अटल सम्बन्ध केवल "धर्म" के नाम से कहा जाता है। यह वैयक्तिक–रूप से अलग ही विलक्षण चमत्कार उत्पादन करने वाला, मानव का सनातन कार्य, सर्वोपरि है।

जयसिंह महाराज, जो अद्भुत दार्शनिक प्रतिभाशाली थे, उनमें ग्रह गण की गति से समय की गति पहिचानने को भारत में जगह–जगह जो नाना वेधशालाऐं स्थापित कीं, उनसे यह पूर्णतया निश्चित हो गया कि मानव–सनातन–धर्म, एक मात्र भकाल, "मुहूर्त्त", या घड़ी की सूक्ष्म से सूक्ष्म हरकत है। सर्वजयी काल, सनातन–धर्म, सब पर अनुशासन या विजय करता है अतः वस्तुतः यह कालात्मा की लहर है। इसीलिए जयपुर बसाने का उद्देश्य, उस काल की सूरत को विजयी बनाना है जो निरन्तर चल रहा है या चलता रहेगा और इस प्रकार ग्रहगणों की परिणति होती रहेगी। अतः जहाँ से सनातन कालधर्म, विश्व का निर्माण करता आया है और जिस विशिष्ट चिदात्मा से उसकी उत्पत्ति हुई उसकी यह अविनाशी प्रगति, सब प्रकार से सर्वोपरि है यह अर्थ "यतो धर्मस्ततो जयः" का लक्षित होता है। इसलिए आँबेर या दिल्ली से आने वाले रास्ते के द्वार पर जयपुर का यह "मोटो" लिखा गया व राजकीय मुहर व "कोट आफ आर्मस्" में रखा गया।

प्रकृति और पुरूष का सम्मिलित रूप, इस दृश्य जगत का रचयिता या प्रकाशक है। बगैर भू–तत्व की स्थिति सदा माने बिना, काम नहीं चल सकता क्योंकि अध्यात्म तत्व अमूर्त्त है और अमूर्त्त तत्व, दृष्टिगोचर या व्यावहारिक नहीं। जब तक अमूर्त्त अमूर्त्त है, तब तक हमारा उससे कोई लेना देना नहीं, वह अपने आप आनन्द में रहे कोई बुराई नहीं, किन्तु व्यवहार शून्यता के कारण, आलोचन का आस्पद नहीं। आप सोचिए, कोई भी धर्मज्ञ शरीर प्राप्त किए बगैर, ज्ञाता या अज्ञ संज्ञा में, कैसे आ पाएगा। आदि काल से प्रकृति को आधारभूत मानकर ज्ञा – अवबोधन का विस्तार हुआ और जब शरीर ब्रह्म ने धारण किया, तब ही तो उसने चारमुखों से चार वेद कहे। आप ब्रह्मलोक से, पाताल, तलातल, रसातल तक भी पहुँचेंगे और वहाँ का आँखों देखा या लिखा हुआ किस्सा आकर या पुनर्जन्म लेकर, हमें सुनाऐंगे, तब हमें जरूर अवधारणा होगी कि विश्व का कोई कोना भौतिकता से अलग नहीं। अधिकरण को आधार मानना आवश्यक है। मुमुक्षा कोई मज़ाक की वस्तु नहीं किन्तु उद्धरण आप संसार की असारता का देकर, सिद्धान्त रूप में, भौतिक आकर्षणों से बचते रहना जीवन में सारभूत बताकर भी, समाज की ओर उन्मुख नहीं होते। बल्कि भगवान की इस **"ईशावास्य"** सृष्टि और **"तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः"** का स्पष्ट अनादर करके, स्वयं को ही सार्वभौम मानते हो । इसे मैं ऐसे लोगों का ज्ञानोद्भव कहूँ या अज्ञान हृदावगाहन।

इस प्रकार के अनर्गल अध्यात्म वक्ता, सभी संप्रदाय धर्मों में विद्यमान है जब कि शास्त्र में मुमुक्षु के लिए अलग से कार्यक्रम बताया है। होना यही चाहिए कि आप उस नश्वरता का उपदेश, चन्द चुने हुओं को, जगत् के आडम्बर पूर्ण परिकर से बाहिर, एकान्त, हिमालय की गिरिकन्दरा में ले जाकर करें। सब अध्यात्म, आधिदैविक, आधिभौतिक सिद्धान्तों का समय समय पर मिक्श्चर बनाकर, भोली जनता को बहकाने से, किसे फायदा मिला। न सुनने वाली जनता लोभ, मोह, मद, मात्सर्य को छोडकर पवित्र अध्यात्म संस्कृति से ही प्रेम कर सकी, जहाँ कि वैयक्तिक मोक्ष का मार्ग है और न व्यवहार में सामाजिकता को ही सुधार कर शुद्ध राष्ट्रवादी बनाने में समर्थ हुई। जगत् मिथ्या है, हमसब भी फिजूल जन्म लेकर धरा पर बोझ बढ़ा रहे हैं तो क्यों न सभी इससे बाहिर हो जाँय, देश–काल व शरीर का त्याग कर दें । गन्दी बस्तियों से निजात पाकर खुली हवा में आ जावें, भले ही से हमारे अभागे भाई, उसी में गलते सड़ते रहें। स्व का अर्थ – स्वार्थ – व्यक्तिगत है अथवा स्व में अपने समूचे समाज की समष्टि का द्योतन होकर, सभी प्राणिमात्र का स्व–अर्थ है। जहाँ पर अग्रजन्मा दुहाई देते आए हैं कि

"एतद्देश–प्रसूतस्य" कहने का मोह है वहाँ देशकाल को छोड़कर कोरे अभिमान का प्रदर्शन नगण्य है। हमने आज तक अग्रजन्मा विश्वेश्वर को माना है, बाकी सब ही साथ साथ ही जनमते हैं फिर तारतम्य की आवश्यकता क्या है और अन्य देशों के तिरस्कार करने का क्या अवसर है।

यद्यपि मैं अपने विषय से दूर की समालोचना में चला गया किन्तु आप स्पष्ट पाऐंगे कि जिस मानव धर्म की विजय की दुहाई का पक्षपात करते हुए महाराजा ने अपना मोटो निश्चित किया था वह "महाभारत" ग्रंथ में, संजय–धृतराष्ट्र की बातचीत में, उद्योग पर्व व अन्यत्र भी आया है। कहीं कहीं पर **"यतोकृष्णस्ततो जयः"** भी कहा गया है। महाभारत ग्रंथ का नाम है **"जय"** ग्रंथ या जयकाव्य अथवा जयनामा–इतिहास। अब प्रथम "जय" शब्द में आए "जि – जये" धातु का चमत्कार देखिए। **"जय उत्कर्षप्राप्तिः,** "अकर्मकोऽयम्" यह अकर्मक धातु है और "भ्वादि" गणों में गिनाया गया है। **"जि – अभिभवे", "अभिभवो – न्यूनीकरणं, न्यूनीभवनं च।"** "आद्ये सकर्मकः", शत्रून्–जयति। "द्वितीयेत्वकर्मकः" अध्ययनात्पराजयते। ये दोनों धातु भ्वादिगणमें – परस्मैपद व अनिट् गिनाए गए हैं। चुरादिगण में– "रूद्, लजि......... जि, चि, रधि ......, आदि गिनाए गए हैं। अन्त में "आप्यायने" अर्थ में इनका प्रयोग माना गया है। यहाँ पर भ्वादिगण पठित **"जि – जये"** धातु द्वारा "जयति" इस धर्म के आश्रय पर **जय**–शब्द बना है जिसका अर्थ सब से ऊँचा सदा बना रहे यह निष्कर्ष है। जैसे "सिद्धान्त कौमुदी" की "बालमनोरमा" की टिप्पणी देखिएः– **"जि जये" अकर्मकः। उत्कर्षेण वर्तनं जयः।** उदाहरण– श्रीमद्भागवत के रासपञ्चाध्यायी में (दशम स्कन्ध) तृतीय अध्याय के प्रथम श्लोक में – गोपीगीत– **"जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः"** व्रजभूमि का उत्कर्ष, श्रीकृष्ण भगवान् के वहाँ जन्म लेने के कारण ऊँचा उठा बताया गया है।

अब आप अथर्व वेद के 1/16/4 के मन्त्र में काल का स्वरूप देखिएः–

"कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्त्राक्षो अजरो भूरि रेताः तमारोहनति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्राभुवनानि विश्वा ।।1 ।।"

अर्थ – बड़े बल वाला, जरा से कभी जीर्ण न हो सकने वाला, सहस्त्रों नेत्रों को धारण करने वाला काल रूपी अश्व चलता है। उसके चक्र सब गोल हैं और सभी भुवनादि विश्व के पदार्थ हैं जो उसके साथ घूमते ही रहते हैं।

"सप्त चक्रान् वहति एष कालः एब सप्तास्य नाभीरमृतं नु वक्षः। स इमा विश्वाभुवनान्यञ्जत् कालः स ईयते प्रथमो नु देवः।

अर्थ – यह काल सात चक्रों को चलाता है– जिसके सात नाभि हैं। इस का चक्र–दण्ड अमरपन है। वह इन सब भुवनों को प्राप्त करता है। वह काल निश्चय से सर्वप्रथम आदि देव समझा जाता है।

शब्द–ब्रह्म का स्वरूपः – **"चत्वारि श्रृंगा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो, अस्य त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति, महादेवो मर्त्या आविवेश" ।। 26।।**

अर्थ – नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात– ये चार जिसके सींग या विशेष चोटियाँ हैं। नित्य और कार्य– ये दो भेद जिसके दो शिर हैं। सात विभक्ति ही सात हस्त हैं। हृदय, कंठ, शिर – इन तीन प्रदेशों में वह बँधा है। ऐसा होकर वह मनुष्यों में प्रविष्ट हुआ है।

"ये त्रिषप्ताः परियनति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः। वाचस्पतिर्बलातेषां तन्वो अद्य दधातु मे" ।।27।।

अर्थ – सुबन्त तिङन्त भेद से अनेक प्रकार के रूप धारण करने वाले जो त्रैसठ (63) वर्ण सर्वत्र व्याप्त हो रहे हैं। ईश्वर उनके स्वरूपों को आज मेरे में बलपूर्वक स्थापित करे ।।27।।

"चत्वारि वाक्परिमितानि पदानि तानि विदु ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेंगयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ।।28।।

अर्थ – जो वाक् "परा–पश्यन्ती–मध्यमा–वैखरी" रूप से चार भेद वाली है। उन चारों को पूर्ण रूप से ब्राह्मण मनीषी या बोध रखते हैं वे ही जानते हैं। और वाणी के तीन भेद गुप्त हैं, अन्य वर्ण केवल वैखरी को ही व्यवहार में लाते हैं।

इतना शब्द ब्रह्म का निरूपण "धर्म" शब्द के व्याख्यान के निमित्त किया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता में

"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीनद्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।।"

सृष्टि (जीवों का लोक) समस्त शरीरधारी जीवों (चेतनों) में, ममैव (सर्वशक्तिमान परमेश्वर) आत्मस्वरूप के अंश रूप में जीव (इकाई) रूप से, सदा सर्वदा से चला

आता सनातन रूप में है। और यही जीव, मन–सहित छहों इन्द्रियों को, जो प्रकृति द्वारा गढ़े हुए शरीर में रहती हैं, को, कृषि (व्यापार–जगत्) के व्यवहार में, लाती हैं। चेतन जीव कुदरती चीजों से सम्पर्क कर उन्हें हलचल में लाता है। आपने देखा होगा कि नए मकान में, जगह जगह तार बिजली फिटिंग कर बीसों जगह, बत्तियाँ, पंखे आदि लगा देता है किन्तु बिजली के करन्ट के बिना, सभी बेकार हैं किन्तु जहाँ लाइन से करन्ट लाकर छुवाया, सभी बल्ब जल जाते हैं, पंखे चलने लगते हैं। इस प्रकार चेतनशून्य, देहस्थ इन्द्रियाँ तभी काम करने लगती हैं जब जीवात्मा का इनसे सम्बन्ध होता है, जो स्वयं परमात्मा का एक अंश है।

"शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।

गृहीत्वैतानि संयति वायुर्गन्धानिवाशयात्।"

शरीर को, कार्य–क्षेत्र–साधन रूप में, जो जीवात्मा प्राप्त होता है और वह स्वयं, स्वयं का सर्वतन्त्र स्वतन्त्र उपभोक्ता या मालिक है। जब तक चाहता है साधनभूत देह रूपी मशीन को चलाता है और जब ऊबकर इससे निकल जाता है तो इन्द्रियों की समस्त ताकतों को साथ लेकर भाग निकलता है। जैसे पुष्प का नुकसान किए बिना, सदा चलती रहने वाली वायु, उस पुष्प के गर्भ में प्रविष्ट होकर गन्ध को अपने में भरकर ले जाती है इसी प्रकार सर्वतन्त्र स्वतन्त्र जीव, देह से निकल जाता है, फिर इस शरीर की कोई उपयोगिता नहीं, मृत माना जाकर, जलाया या गाड़ा जाता है।

अतः यहाँ यह पूर्ण स्पष्ट है कि जीवात्मा की पहिचान शरीर में आने पर ही होती है और निकल जाने पर, शरीर का अस्तित्व लुप्त होकर जीवात्मा का स्वतन्त्र–रूप व्यक्त हो जाता है।

भगवान श्री रामानुजाचार्य के दर्शन में:–

"जीवात्मा हि ब्रह्मणः शरीरतया प्रकारत्वाद् ब्रह्मात्मकः। य आत्मनि निष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्। (बृ. 3/7/22) इतिश्रुत्यन्तरात्।

"अत्यल्पमिदमुच्यते। सर्वे शब्दाः परमात्मन एव वाचकाः। न च पर्यायत्वम्। द्वारभेद सम्भवात्। तथा हि जीवस्य शरीरतया प्रकारभूतानि देवमनुष्यादिसंस्थानानीव सर्वाणि वस्तूनीति ब्रह्मात्मकनि तानि सर्वाणि। अतः

"देवो मनुष्यो यक्षो वा पिशाचोरगराक्षसाः।

पक्षी, वृक्षो, लता, काष्ठं, शिला, तृणं, घटः, पटः।।

इत्यादयः सर्वे शब्दाः, प्रकृतिप्रत्यययोगेनाभिधायकतया प्रसिद्धा लोके, तद्वाच्यतया प्रतीयमान तत्तत्संस्थानवत् वस्तुमुखेन तदभिमानी जीव तदन्तर्यामिपरमात्मपर्यन्त संघातस्य वाचकाः।"

जीवात्मा ही ब्रह्म के शरीर रूप धारण करने से प्रकार रूप से ब्रह्म स्वरूप है। इसमें छान्दोग्योपनिषत् प्रमाण है। सभी शब्द, परमात्मा के वाचक हैं। देवता से लेकर अचेतन तक सभी वस्तुऐं शरीर रूप से सभी ब्रह्मस्वरूपी हैं। ये बात शब्द के अर्थ में, प्रकृति–प्रत्यय द्वारा, अभिव्यक्ति की तरह, वस्तु द्वारा परमात्मा अभिमानी जीव–आदि–सभी–पदार्थ ब्रह्मरूप ऐसा कहतीं हैं। जिनमें देवता, मनुष्य, यक्ष, पिशाच, उरग, राक्षस, पक्षी, वृक्ष, लता, काष्ठ, शिला, तृण (घास), घट, पट आदि परमात्मा पर्यन्त ब्रह्मस्वरूप हैं। भेद बुद्धि ठीक नहीं क्योंकि चेतन, अचेतन से अभिभूत है और अचेतन चेतन से।

उक्त बात सूक्ष्म रूप से यहाँ पर भकाल के साथ "देश" की स्थिति बताने व इन दोनों पर आधृत वस्तुधर्म (सामान्य) की सिद्धि करने को बतायी गयी है। महाराजा ने, इसी मत को सत्य मानकर "देश काल" से संयुक्त धर्म को हम सब पर शासन करने वाला बताकर उसकी विजय कामना – स्थान विशेष व काल विशेष – की सत्यता स्थापित करने को की है।

अब विचारिए कि "जय" में, चेतन जीव का अस्तित्व तो परम्परागत है और भूत–भविष्यत्–वर्तमान तीनों कालों में रहने के कारण देश की प्रतिष्ठा भी समाविष्ट है। इस, सदा सर्वकाल स्थिर रहने वाली प्रतिष्ठा को, हम सर्वशक्तिमान में मानते हैं– जो परमात्मा या परमेश्वर कहा जाता है। परमेश्वर भी, सांसारिक आपत्तियाँ, अधर्म का नाश करने को, जन्म लिया करते हैं। उनका प्रादुर्भाव, शूकर, मछली, कछुआ, आधा शरीर मनुष्य व आधा शरीर (मस्तक) सिंह (वनेले–पशु) का धारण कर नृसिंह रूप में भी प्रकट हुआ है ऐसी पुराणों की गाथा है। कहा है श्रीमद्भगवद्गीता में–

"यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।

तत्तदेवाऽवबोधत्वं ममतेजोंऽशसंभवम्।"

देखा जाय तो प्राणी मात्र चेतन से ही चमत्कृत है किन्तु उनमें से भी उद्भूत विशिष्ट तेज को, तर, तम, भाव की दृष्टि से, अन्य तेजस्वियों से जब उसे हम अधिक मान लेते हैं तो उसे विशिष्ट–भूति का अवतरण या अवतार कहा जाता है। एक कहावत चली आती है कि चमत्कार को नमस्कार, यह विशिष्ट विभूति में रहने वाले महत्त्व को बताती है। क्या साधारण शूकर, पृथ्वी को उखाड़ सकता व दांतों पर उठा सकता है, क्या मछली प्रलयकालीन भयंकर स्थिति में, किसी नाव को नाक के बाँधकर ले जा सकती है। क्या मंदराचल या पृथ्वी का साधारण बोझ कोई कछुआ उठा सकता है, क्या सिंह व मानव का मिश्रित रूप, ठोस स्तम्भ चीरकर निकल सकता है। क्या साधारण मानव 14 हजार राक्षसों को अकेला मार गिरा सकता है या रावण जैसे बलशाली त्रिभुवनजयी को वानरों की सेना साथ लेकर, समुद्रसेतु बाँध सकता है। इसी प्रकार कंस को मारने व कौरव–पांडव युद्ध में, खुद न लड़कर भी 18 अक्षौहिणी सेना को विनाश करने की तरकीब कोई दूसरा दिखा पाया है, आदि।

जो असंभव को संभव बना दे, वही सर्वशक्तिमान है। मानव में दैवत्वगुणों के साथ भौतिक गुणों का भी समावेश है क्योंकि उसका प्रादुर्भाव, दैवी अंश को, प्राकृतिक शरीर में, जन्म लेकर, प्रकट होना है। इस प्रकार जन्म लेने वाले, नर नारियों की "नर" संज्ञा है। समस्त विश्व में मानव सत्ता का बोलबाला है, बुद्धि एवं मन के बल पर यह विस्तार करता रहा है, जिसमें अनेकानेक सिद्धान्त उसके द्वारा स्थापित किये जाते रहे हैं और उन पर विजय पाकर आज तक अपने अस्तित्व की परम्परा पर कायम रखा। संसार में रद्दोबदल लाने वाली ऋतुऐं, राज्यों की सीमा में रद्दोबदल करती रहने वाली उसकी "नीति", राजनीति या दण्डनीति के आश्रय पर चलती रहीं। वह राजा, महाराजा, बादशाह या नेता आदि में बनता बिगड़ता रहा।